बहुजन चेतना का वाहक

वर्ष : 3 अंक : 4 अक्टूबर : 2018

अंक : 4 वर्ष : 3
संयुक्तांक (अक्टूबर 2018)
आवृति : त्रैमासिक मूल्य : 50/– रुपये
वार्षिक : 200/– रुपये
(पटना से बाहर के लिए 75/– अतिरिक्त कूरियर चार्ज)
आजीवन : 25000/– रुपये
कार्यालय संपर्क :
22 किदवईपुरी,
पटना 800001
मोबाइलः 9905718003, 9835059903
ईमेल : bagdor2016@gmail.com
वेबसाइट : www.bagdor.in

आवरण चित्र : फीलिंग ऑफ फ्रीडम : मयंक शर्मा
कवर एवं ले–आउट : रवि भूषण गुप्ता
कम्पोजिंग : बागडोर द्वारा 22 किदवईपुरी, पटना से प्रकाशित एवं भारत–भारती, खजांची रोड से मुद्रित।
संपादन : अवैतनिक

भाजपा के साथ कांग्रेस का भी चरित्र मनुवादी

कम्प्यूटर के आविष्कारकों ने शायद ही कभी सोचा होगा कि भारतीय पुलिस इस डिवाइस के साथ ऐसा कुत्सित हरकत करेगी। भीमा–कोरेगांव की हिंसक घटना के साथ एक्टिविस्टों, वकीलों और अकादमिकों की गिरफ्तारियों का जो सिलसिला शुरू हुआ है, वह रुकने का नाम नहीं ले रहा। कम्प्यूटर का सामान्य ज्ञान रखने वाला भी यह जानता है कि अगर एक बार आपका कम्प्यूटर किसी के हाथ लग जाए तो हार्डडिस्क से छेड़छाड़ करके आसानी से उसमें कोई भी सामग्री प्लांट की जा सकती है। इस मामले में भारतीय पुलिस का कोई जोड़ नहीं है। अभी हाल में पांच जाने–माने एक्टिविस्टों की नजरबंदी इस बात का पुख्ता संकेत है कि हम उस खतरनाक दौर में पहुंच चुके हैं जहां किसी को भी, कहीं से और कभी भी पुलिस द्वारा उठाया जा सकता है और राष्ट्रद्रोही, आतंकवादी या फिर अर्बन नक्सल घोषित करके जेल की सीखंचों में लम्बे समय तक के लिए डाल दिया जा सकता है। यहां हम आए दिन सरकार की मुखालफत करने वालों को पुलिस द्वारा उठाये जाने की घटनाओं का जिक्र छोड़ देते हैं जो शायद ही अखबार की सुर्खियां बटोर पाती हैं।

गौरतलब है कि भाजपा सरकार राजकीय दमन की उन्हीं रणनीति और कार्यनीतियों पर अमल कर रही है जो कभी कांग्रेसी सरकारें करती रही हैं। कभी अरुण फरेरा के पेन ड्राइव से सरकार को उखाड़ने की साजिश का पता चला था तो आज रोना विल्सन के हार्डडिस्क से। इस दमन के लिए भाजपा सरकार ने कोई नए कानून नहीं लाए हैं बल्कि उन्हीं काले कानूनों का इस्तेमाल कर रही है जिनसे कांग्रेसी सरकारों ने बरसों पहले से राज्य को सुसज्जित कर रखा है। देशद्रोह कानून, गैरकानूनी गतिविधि (रोकथाम) अधिनियम, सशस्त्र शक्ति विशेष अधिकार अधिनियम, गौ संरक्षण अधिनियम आदि ऐसे कानूनों की लम्बी फेहरिस्त है जिसके जरिए आज भाजपा सरकार गरीबों और लोकतंत्र की आवाज उठानेवालों पर दमन ढा रही है।

गृहमंत्री ने घोषणा की है कि 2021 में ओबीसी गणना होगी जिसकी रिपोर्ट 2024 तक प्रकाशित की जाएगी। 2011 में हुई जाति गणना की रिपोर्ट के प्रकाशन पर भाजपा और कांग्रेस दोनों ने ही षड्यंत्रकारी चुपी साध रखी है। आपको याद होगा कि किस तरह कांग्रेस सरकार ने एक साजिश के तहत आम जनगणना में जाति को शामिल करने की लोकप्रिय मांग को ठुकरा करके हजारों करोड़ रुपये खर्च करके अलग से जाति गणना कराई ताकि इसे विलंबित किया जा सके। 2021 की आम जनगणना में सभी जातियों को भी शामिल करने की घोषणा करने की बजाए भाजपा द्वारा सिर्फ ओबीसी गणना का ऐलान उसी कांग्रेसी साजिश का प्रति रूप है। ये दोनों ही सवर्णवादी पार्टियां बिलकुल ही नहीं चाहती कि जाति गणना हो।

आज जाट, पटेल, मराठा सभी आरक्षण की मांग कर रहे हैं। ओबीसी में उप श्रेणीकरण की कवायद भी की जा रही है। इस स्थिति में आबादी के अनुसार हिस्सेदारी का सिद्धांत सर्वाधिक समीचीन हो गया है। मंडल कमीशन से लेकर सच्चर कमिटी तक ने राष्ट्रीय डेटा बैंक की बात कही है और विभिन्न समयों में सुप्रीम कोर्ट ने भी इसकी आवश्यकता जतलाई है। यह डेटा बैंक आम जनगणना में जाति को शामिल किए बगैर नहीं बनाया सकता है। याद रहे जाति गणना का उद्देश्य जाति विभाजित समाज को और ज्यादा विभाजित करना नहीं है, बल्कि सदियों पुराने जाति विभाजित समाज की सच्ची तस्वीर पेश करना है जिससे कि जातिगत भेदभाव और असमानता को दूर करने के लिए राष्ट्रीय संसाधनों के सम्यक वितरण की सही योजनाएं बनाई सके। लिहाजा, हमारी मांग होनी चाहिए कि 2011 में हुई जाति गणना की रिपोर्ट तुरंत सार्वजनिक की जाए और 2021 की आम जनगणना में सभी जातियों को शामिल किया जाए।

आज भाजपा और कांग्रेस दोनों में यह होड़ मची है कि कौन ज्यादा शिव भक्त है और कौन ज्यादा राम भक्त और कि उनके डीएनए में कितना ब्राह्मण है। बेशक, 2019 के आम चुनाव में मोदी सरकार को सत्ताच्युत करना, बहुजनों की पहली प्राथमिकता होनी चाहिए, लेकिन उन्हें निश्चय ही कांग्रेस के मनुवादी चरित्र के प्रति सतर्क रहना होगा।

सबाल्टर्न का यह अंक कुछ अपरिहार्य कारणों से विलम्ब से निकल रहा है। उम्मीद है आगे से इसकी धारावाहिकता बनी रहेगी। हमेशा की तरह आपके मतों, सुझावों और बेबाक टिप्पणियों का स्वागत है।

– महेन्द्र सुमन

भगत सिंह के जन्म दिन पर

सनातनवाद और साम्राज्यवाद की फांस में भारत

प्रकाश चंद्रायन

भारतीय विवेक फिलहाल अविवेक से कठिन संघर्ष कर रहा है। यह युद्ध आकस्मिक नहीं सतत है। यह मोर्चाबंदी अनायास नहीं सायास है। पिछली अनेक सदियों को छोड़ दें, सिर्फ बीसवीं और इस सदी के शुरुआती दशकों को गहराई से परखें तो स्पष्ट दिखता है कि स्वघोषित सनातनवादियों ने भारतीय उपमहाद्वीप में एक सुव्यवस्थित मानवविरोधी अभियान अबाध रूप से जारी रखा है। रणनीतिक और कार्यनीतिक तौर से सतह पर यह कभी कम तो कभी ज्यादा दिखता है परंतु, भीतरी तौर पर इसकी सघन सक्रियता हमेशा रही है। कभी यह प्रचंड दिखता है, अभी यह प्रचंडतर है और आगे शायद प्रचंडतम होगा, यदि दीर्घकालीन विकल्प की तैयारी न हो। यह स्वाभाविक है कि इस सनातनवादी आंधी में ऐसे वैचारिक आधारों की तलाश की जाए, जो आवश्यक लक्ष्यों और संघर्षों को जानने का रास्ता दें। इस संदर्भ में, भगत सिंह के विचार और कर्म बेहद प्रासांगिक हैं।

लेखक जनपक्षधर कवि, पत्रकार हैं। हिन्दी समाज की विभिन्न समस्याओं पर इनके संपादन में लोकमत समाचार के निकले अंक बेहद चर्चित रहे हैं।

आंतरिक औपनिवेशिकताएं

यों तो बीसवीं सदी के भारत में अनेक राष्ट्रनायक नए विचारों के साथ हमारे जीवन में हस्तक्षेप कर आंदोलित करते हैं। जाहिर है, वह बाह्य औपनिवेशिक भारत था, इसलिए सभी राष्ट्र नायकों और प्रयोगों का मूल स्वर विदेशी औपनिवेशिकता का विरोध रहा। स्वाधीन भारत के बारे में सबकी अलग–अलग सोच और रास्ते थे। वह विभिन्न विचारों, अभियानों और प्रयोगों का दौर था। इन अग्रणियों में बिना स्पर्धा, तुलना और क्रम निर्धारण के यह साफ नजर आता है कि एक वैचारिक मोड़ पर भगत सिंह सबसे अलग हैं, जब वह यह बताते हैं कि मैं नास्तिक क्यों हूं? यानी नास्तिकता की अनिवार्य सार्थकता क्या है? इस सुचिंतित घोषणा और व्याख्या के साथ वह यह स्पष्ट करते हैं कि सिर्फ विदेशी औपनिवेशिकता से मुक्ति ही समग्र मुक्ति नहीं है बल्कि भारत में हजारों सालों से जो आंतरिक औपनिवेशिकताएं हैं, उनसे मुक्ति भी आवश्यक है। वरना, सनातनवाद इसे भी निगल जाएगा। भारत में सदियों से धर्म–पंथ, जाति–वर्ण, आस्तिकता–अध्यात्म, संस्कृति–सभ्यता, मिथक–आस्था पूर्व–पुनर्जन्म, पाप–पुण्य, कर्मकांड–नियति, श्रेष्ठताग्रंथि, पितृसत्ता, परजीवीपन, श्रमविरोधी बौद्धिकता, ज्ञान का एकाधिकार, छद्म विज्ञान, अर्थ और श्रम यानि उत्पादन के स्रोत, हुनर व वाणिज्य का उत्तराधिकार आदि अनेक जटिल–जड़ सत्ताओं का इस्तेमाल आंतरिक औपनिवेशिकताओं को बनाए रखने के लिए हो रहा है। उनमें किसी एक के खात्मे से सम्पूर्ण औपनिवेशिकताओं का खात्मा नहीं हो जाता, ये एक–दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े हैं। एक दूसरे के सहयोग से यह सनातनवादी औपनिवेशिकता न केवल हमारे जीवन को बल्कि भारतीय उपमहाद्वीप के समय को निगल रही है। इस पृष्ठभूमि में, जैसे ही भगतसिंह ''मैं नास्तिक क्यों हूं'' कहते हैं, वे एक झटके में भीतरी–बाहरी सभी सनातनवादी औपनिवेशिकताओं से मुक्त होकर उसी क्षण विवेकवादी मुक्तिनायक के बतौर सबसे आगे और अलग खड़े हो जाते हैं। इस स्थान पर उनके समक्ष कोई नहीं।

आधे–अधूरे प्रयोगों के अंतर्विरोध

इस विश्लेषण को किसी के प्रति अनादर के तौर पर नहीं, सिर्फ संदर्भ और सबक के बतौर देखें तो कई धुंधलके मिट जाते हैं। गरमदली बाल गंगाधर तिलक ने कहा कि स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और इसे लेकर रहेंगे। इस उद्देश्य को हासिल करने के लिए 'गणेशोत्सव' को औजार बनाया और माना कि यह स्वतंत्रता आंदोलन का श्रीगणेश है। हालांकि यह उनकी मौलिक खोज नहीं थी। इस नारे और उपकरण के खोजी थे एक रोमन कैथोलिक, बंबई के महापौर (1925–1926),

होमरूल मूवमेंट के एक सूत्रधार और तिलक के कानूनी सलाहकार जोसेफ बापतिस्ता। उनका ही सूत्र था–'स्वराज इज माय वर्थराइट एंड आइ शैल हैव इट'। उन्होंने ही इस नारे को सार्वजनिक गणपति उत्सव के जरिए फैलाने की रणनीतिक सलाह तिलक को दी थी। प्रारंभ में ही सनातनवाद के समक्ष यह स्वतंत्रता अभियान का समर्पण था जिसके तहत आधुनिक राजनीतिक प्रयोग को मिथक और धर्म की शरण लेनी पड़ी। गांधी वर्ण और ईश्वर को मानते थे। यानी सनातनवादी औपनिवेशिकता में उनका विश्वास था।' ईश्वर सत्य है' मानने वाले गांधी, गोपाराजू रामचंद राव 'गोरा' से संवाद के बाद 'सत्य ही ईश्वर है' तक पहुंचते हैं। 'सत्याग्रह' और 'सत्य के मेरे प्रयोग' तक बढ़ते हैं लेकिन प्रार्थना सभा, रामराज्य और सच्चा हिन्दू होने तक उनका मन रमता या अटक जाता है। स्पष्ट है कि उनकी मनोरचना एक तय मनोलोक में निश्चित रहती है। बाद में, उन्होंने नास्तिक रामास्वामी से स्वीकार भी किया कि वे राजनीतिक व्यक्ति नहीं हैं। मूलतः वे धर्म और समाज सुधार के लिए चले थे। राजनीतिक परिस्थितियां स्वयं उनके मार्ग में आती गईं और वे बेमन राजनीति में खिंचते चले गए। यदि वे बेमन राजनीति न करते और पूरे मन से धर्म और समाज सुधार के लिए काम करते तो हिन्दू धर्म का परिदृश्य बदलता। गुणात्मक न सही मात्रात्मक ही सही। यदि परिदृश्य न भी बदलता तो भी सनातनवाद का जड़ मानस और चरित्र तो उजागर होता। आत्मनिरीक्षण के प्रति उनका द्वन्द्व या नकार तो प्रकट होता। गांधी का रक्षात्मक होना उस सनातनवाद को बचने का अवसर दे गया, जो आज फिर एक बार विकराल रूप से मौजूद है। यहां इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि गांधी हरक्षण पूरे मन से बहुआयामी राजनीति करते रहे, भले ही वे इसे बेमन राजनीति कहें। धर्म और समाज कभी राजनीति निरपेक्ष नहीं रहे। दूसरी ओर, भगत सिंह भी पूरे मन से न केवल घोषित राजनीति करते हैं, बल्कि सनातनवादी औपनिवेशिकता से मुक्ति का बीज भी बोते हैं। वे भी आर्य समाजी और सिख पारिवारिक पृष्ठभूमि में आस्तिक और ईश्वरवादी थे लेकिन क्रमशः वैचारिक रूपांतरण ने उनकी मनोरचना का नवोन्मेष किया और वे अंततः विवेकवादी बन गए। नास्तिक तो पेरियार रामास्वामी नायकर भी थे लेकिन, 'आत्मसम्मान आंदोलन' की मजबूती और ब्राह्मणवादी संस्कृति के वर्चस्व से मुक्ति के लिए वे उन द्रविड़ जातियों के संगठन की ओर उन्मुख होते हैं जो हिंदू धर्म की तलछट में धकेले गए हैं। अप्रत्यक्षतः वे भी जातिवर्ण केन्द्रित सनातनवाद की सीमा में कैद हो जाते हैं क्योंकि– जातिवर्ण की जटिल और दमनकारी संरचना पर ही तो हिन्दू धर्म खड़ा है। ''ईश्वर का अंत'' शीर्षक संपादकीय (विदुलथई, 17 दिसम्बर 1969) में पेरियार ने लिखा कि हम तमिल (द्रविड़) हिन्दू धर्म को अपना धर्म मानते रहे हैं,यह अपने आप में एक बहुत बड़ी चूक है।

धार्मिक उपनिवेश और विवेक

एक अन्य प्रतिगमन भी देखें। विदेशी औपनिवेशिकता से लड़ते–लड़ते अरविंद आध्यात्मिकता में मोक्ष ढूंढने लगते हैं। ध्यान रहे कि 'रैडिकल ह्यूमेनिस्ट' मानवेंद्रनाथ राय ने अध्यात्मवाद को आध्यात्मिक औपनिवेशिकता करार दिया है। इस अध्यात्मवाद और रहस्यवाद का कुहरीला परदा इतना घना है कि हिन्दी साहित्य (शायद सम्पूर्ण भारतीय साहित्य) में ईश्वरविहीन आध्यात्मिकता, धार्मिक लालित्य, आध्यात्मिक उत्क्रांति, मिथकीय आख्यान, आस्तिकता का वृतांत और पुनरुत्थानवादी रुमानियत का सनातनी मनोविलास कई साहित्यिक वादों और प्रवृतियों को लील लेता है। अन्य कलाएं भी इसी रुझान की अंध सहयात्री हैं क्योंकि इसे बाजार का सशक्त समर्थन हासिल है। प्रसिद्ध चित्रकार सूजां का विचार था कि भारतीय कला हिन्दू कला है। बावजूद इसके हिन्दू मिथकों का चित्रण कर मकबूल फिदा हुसैन हिन्दुत्व की सांस्कृतिक 'लिंचिंग' से बच नहीं सके। भारतीय न्यायपालिका का महत्वपूर्ण न्यायादेश भी उन्हें अभय नहीं कर पाया। डा. भीमराव आंबेडकर दशकों तक हिन्दू धर्म की सनातनी क्रूरताओं पर प्रखर प्रहार और तार्किक बहस करते हुए अंततः धम्मंशरणम के आग्रही हो गए। इसे हिन्दी के लेखक धर्मवीर ने भटकाव कहा है। धर्मवीर बौद्ध धम्म की जगह आजीवक धर्म को वरीयता देते हैं। यहां विचारणीय है कि कोई भी धर्म मानव दमन की विश्व व्यवस्था से अलग कहां है? यह शोध का विषय है। धर्म अंततःधार्मिक उपनिवेश ही है जिसमें मानवीय विवेक की रक्षा नामुमकिन है। पुरोहिती–सामंती–महाजनी वर्चस्व के इस सनातनी जाल को अब कॉरपोरेट तथा विश्व पूंजीवाद ने प्रिय औजार बना लिया है। इसलिए पूंजी की छाया में गॉडमेन की आपराधिक और लुम्पेन तादाद बढ़ रही है। इसके फैलाव में कॉरपोरेट चालित दृश्य श्रव्य माध्यम और मीडिया भी बढ़चढ़ कर सहभागी है। राममनोहर लोहिया भी कोई कर्मकांडी हिन्दू नहीं थे लेकिन, सनातनी मिथकों के मोह से मुक्त नहीं हो पाए। वह मिथकीय औपनिवेशिकता के प्रतीकों का ऐसा मोहक और ललित पाठ करते हैं कि उसे पढ़ते हुए उदार हिन्दू मंत्रमुग्ध हो जाता है। उनके मिथिहासिक और सांस्कृतिक निबंधों के बारे में कतिपय सनातनवादी प्रचारक कहते भी हैं कि लोहिया का सांस्कृतिक मानस सनातनी मूल्यों का मानस है। हालांकि, यह सनातन–वादियों की उथली दृष्टि है और इस कथन से सभ्यता समीक्षक लोहिया को विरुप, अनुकूलित और समायोजित नहीं किया जा सकता। यहां उल्लेखनीय है कि लोहिया धर्म को दीर्घकालीन राजनीति और राजनीति को अल्पकालीन धर्म कहते हैं। जाहिर है, इस मान्यता में राजनीति और धर्म का साझा झांकता है। हम

यह भी देख सकते हैं कि वर्चस्ववादी मिथकों के अतिवाद से लोक मिथकों को निरंतर अपमानित किया जा रहा है। यह मिथकीय आक्रमण है, जिसे राज्य का मौन समर्थन है। सनातनवादियों को दूसरी रणनीति भी कम धूर्ततापूर्ण नहीं है। नास्तिक होने के कारण आचार्य नरेन्द्रदेव उस फैजाबाद– अयोध्या क्षेत्र से एक कांग्रेसी महंत द्वारा चुनाव में हरा दिए जाते हैं जो अनेक दशकों से सनातनवादियों का युद्धस्थल है। अनीश्वरवादी–तर्कवादी नरेन्द्रदेव के संसदीय जीवन का अवसान इस तथ्य का संकेत तो नहीं कि संसदीय लोकतंत्र में नास्तिक बुद्धिवादिता की उपस्थिति असह्य है। तभी तो संवैधानिक शपथ समारोहों में संविधान और सत्यनिष्ठा की शपथ की जगह ईश्वर के नाम शपथ की गूंज रहती है। अदालती कार्यवाही में भी संविधान की जगह धर्मग्रंथों पर हाथ रखकर सच की शपथ ली जाती है। इससे स्पष्ट है कि संविधान के बरक्स धर्म का दर्जा ऊंचा है। अन्यथा, किसी न्यायालय परिसर में मनु, प्रत्यक्ष कर अकादमी में कौटिल्य और लोकतांत्रिक संस्थानों में किसी राजा की मूर्ति (छत्रपति) स्थापित नहीं होती। संवैधानिक संस्थाओं को सनातनवाद द्वारा निगलने के ये उदहारण हैं या सनातनवाद के समक्ष संविधान के शिथिल होने की मिसाल हैं। संसदीय लोकतंत्र के ढांचे में घुसकर सनातनवाद–साम्राज्यवाद की नीतियां नेहरू के मिश्रित, साझा और कल्याणकारी सपनों तथा प्रयोगों को 24 जुलाई 1991 को निगल चुकी है और जो बचा है वह मुक्त पूंजीवाद के समर्थक रघुराम राजन के शब्दों में 'इलेक्टेड ऑटोक्रेट' चालित तंत्र है। दरअसल, मिश्रित अर्थव्यवस्था हो या वैश्वीकरण, दोनों ही इजारेदार पूंजी के दो चेहरे या पैंतरे हैं।

सनातनी मनोभूमि

कुछ अन्य उदाहरण देखें। मोहम्मद अली जिन्ना भी अंधधर्मी नहीं थे। भगत सिंह की शहादत पर तत्कालीन धारा सभा में शायद ही किसी नेता ने वैसा विचारवान व्याख्यान दिया हो लेकिन, मजहबी द्विराष्ट्र सिद्धांत की जिद में वे भी भीतरी–बाहरी औपनिवेशिकता और सत्ता के अंधकूप में समा जाते हैं। धर्मराष्ट्र के समविचारी विनायक दामोदर सावरकर भी नास्तिक थे। 1857 की राज्यक्रांति के प्रथम पाठकर्ता थे, जबकि गांधी 1857 का भूले– भटके भी उल्लेख नहीं करते। अति का अंत देखिए कि सावरकर की नास्तिकता अंततः सनातनवादी धर्मसत्ता के आगे घुटने टेक देती है और वे सैन्य हिंदुत्व के सूत्रधार बन जाते हैं। जाहिर है, सर्वग्रासी सनातनवादी मनोक्रिया अपना काम कर जाती है। यह क्रिया एक घातक जीवाणु की तरह मनोरचना में संस्कारों की आड़ लेकर छिपी रहती है और किसी निर्णायक क्षण में हमलावर हो जाती है। यह हमलावर मनोरचना प्रसिद्ध साहित्यकार निर्मल वर्मा की इस टिप्पणी में भी दिखती है कि यदि राम की जन्मभूमि एक मिथक है तो ब्राह्मणों द्वारा निचली जातियों का शोषण कौन–सा इतिहास है? देश के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू 'सांइटिफिक टेम्पर' के पैरोकार थे। वैज्ञानिक संस्थानों की श्रृंखला स्थापित करते रहे, लेकिन, अपनी वसीयत में कहते हैं कि उनकी राख हिमालय की श्रृंखलाओं, देश के खेत–खलिहानों और गंगा में बिखेर दी जाए। भारतीय राज्य जनता के पैसे से यह कर्मकांड करता है। हालांकि, मृत्यु से 34 वर्ष पूर्व 1930 में प्रसिद्ध इतिहासकार विल ड्यूरां को एक पत्र में नेहरू ने लिखा था, 'विज्ञान और तार्किकता में मेरा विश्वास रहा है। अब भी मैं इनमें विश्वास करता हूं, लेकिन, कभी–कभी मुझे लगता है कि इनमें कुछ कमी है। जीवन अन्य ताकतों से भी संचालित लगता है।' यही सनातनी मनोभूमि है जो दबे–छिपे सक्रिय रहती है। देश के प्रथम राष्ट्रपति संविधान सभा के अध्यक्ष राजेन्द्र प्रसाद 1953 में काशी के सौ–दो सौ पंडों का पदप्रक्षालन करते हुए भारतीय संवैधानिक राज्य को नीचे गिरा देते हैं। इस समय राममनोहर लोहिया ने कहा था, 'इस आधार पर कि कोई ब्राह्मण है, उसके पैर धोने का मतलब होता है जाति प्रथा, गरीबी और दुख–दर्द को बनाए रखने की गारंटी देना।' राष्ट्रपति की हैसियत से वे एक धार्मिक–मिथकीय प्रकाशन संस्थान के सूत्रधार को देश का सर्वोच्च सम्मान स्वीकार करने का अनुरोध भी करते हैं। समग्रतः बहैसियत राष्ट्राध्यक्ष वे क्या संदेश देते हैं? नेहरू का प्रिय एक सनातनवादी मुख्यमंत्री पांचवें दशक में अयोध्या में सांप्रदायिक साजिश की छूट देकर संविधान और राज्य की गरिमा का हनन करता है। एक राजनीतिक दल और विचारधारा को मुख्यधारा में स्वीकृति दिलाने के लिए राम मनोहर लोहिया और जयप्रकाश नारायण पर उंगली उठाने के साथ 'जय जवान जय किसान' के राष्ट्रवादी नारे के भीतर सैन्यवाद और कृषि–पूंजीवाद के सूत्रधार देश के दूसरे प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री पर भी उंगली उठनी चाहिए कि नेहरू सरकार में बतौर गृहमंत्री उन्होंने किस सनातनी मन के अंतर्गत दिल्ली की यातायात व्यवस्था और राजपथ पर परेड में एक अर्धसैन्य संगठन राष्ट्रीय स्वंय सेवक संघ को शामिल कराया था। इससे किस विचारधारा को लोकवृत में स्वीकृति दिलवाई गई और उसका राजनीतिक संगठन दिल्ली की नगर सत्ता पर काबिज हो गया। भारतीय संसद पर 1966 में गोरक्षा के बहाने परजीवी सनातनवादी झुंड ने जो हमला किया था, उससे जाहिर हुआ कि सनातनवाद को संवैधानिक संसद नहीं, धर्म संसद चाहिए। इस संयोग को भी याद करना चाहिए कि उस वक्त गुलजारीलाल नन्दा गृहमंत्री थे जो भारत साधु समाज के संरक्षक और दो बार कार्यकारी प्रधानमंत्री रह चुके थे। इन सनातनवादी गतिविधियों में भारत के संकट को देखा जाना चाहिए। यह संकट दोहरा है– एक सनातनवादी औपनिवेशिकता और दूसरा साम्राज्यवादी औपनिवेशिकता। दोनों के तार जुड़े हैं।

'अछूत समस्या' पर भगत सिंह के विचार

अब एक सवाल और उठता है कि इस समस्या का सही निदान क्या हो? इसका जबाब बड़ा अहम है। सबसे पहले यह निर्णय कर लेना चाहिए कि सब इंसान समान हैं तथा न तो जन्म से कोई भिन्न पैदा हुआ और न कार्य–विभाजन से। अर्थात् क्योंकि एक आदमी गरीब मेहतर के घर पैदा हो गया है, इसलिए जीवन भर मैला ही साफ करेगा और दुनिया में किसी तरह के विकास का काम पाने का उसे कोई हक नहीं है, ये बातें फिजूल हैं। इस तरह हमारे पूर्वज आर्यों ने इनके साथ ऐसा अन्यायपूर्ण व्यवहार किया तथा उन्हें नीच कह कर दुत्कार दिया एवं निम्नकोटि के कार्य करवाने लगे। साथ ही यह भी चिन्ता हुई कि कहीं ये विद्रोह न कर दें, तब पुनर्जन्म के दर्शन का प्रचार कर दिया कि यह तुम्हारे पूर्व जन्म के पापों का फल है। अब क्या हो सकता है? चुपचाप दिन गुजारो! इस तरह उन्हें धैर्य का उपदेश देकर वे लोग उन्हें लम्बे समय तक के लिए शान्त करा गए। लेकिन उन्होंने बड़ा पाप किया। मानव के भीतर की मानवीयता को समाप्त कर दिया। आत्मविश्वास एवं स्वावलम्बन की भावनाओं को समाप्त कर दिया। बहुत दमन और अन्याय किया गया। आज उस सबके प्रायश्चित का वक्त है।

इसके साथ एक दूसरी गड़बड़ी हो गई। लोगों के मनों में आवश्यक कार्यों के प्रति घृणा पैदा हो गई। हमने जुलाहे को भी दुत्कारा। आज कपड़ा बुननेवाले भी अछूत समझे जाते हैं। यू.पी. की तरफ कहार को भी अछूत समझा जाता है। इससे बड़ी गड़बड़ी पैदा हुई। ऐसे में विकास की प्रक्रिया में रुकावटें पैदा हो रही हैं। इन तबकों को अपने समक्ष रखते हुए हमें चाहिए कि हम न इन्हें अछूत कहें और न समझें। बस, समस्या हल हो जाती है। नौजवान भारत सभा तथा नौजवान कांग्रेस ने जो ढंग अपनाया है वह काफी अच्छा है। जिन्हें आज तक अछूत कहा जाता रहा उनसे अपने इन पापों के लिए क्षमायाचना करनी चाहिए तथा उन्हें अपने जैसा इंसान समझना, बिना अमृत छकाए, बिना कलमा पढ़ाए या शुद्धि किए उन्हें अपने में शामिल करके उनके हाथ से पानी पीना,यही उचित ढंग है। और आपस में खींचतान करना और व्यवहार में कोई भी हक न देना, कोई ठीक बात नहीं है।

जब गांवों में मजदूर–प्रचार शुरू हुआ उस समय किसानों को सरकारी आदमी यह बात समझा कर भड़काते थे कि देखो, यह भंगी–चमारों को सिर पर चढ़ा रहे हैं और तुम्हारा काम बंद करवाएंगे। बस किसान इतने में ही भड़क गए। उन्हें याद रहना चाहिए कि उनकी हालत तब तक नहीं सुधर सकती जब तक कि वे इन गरीबों को नीच और कमीना कह कर अपनी जूती के नीचे दबाए रखना चाहते हैं। अक्सर कहा जाता है कि वह साफ नहीं रहते। इसका उत्तर साफ है– वे गरीब हैं। गरीबी का इलाज करो। ऊंचे–ऊंचे कुलों के गरीब लोग भी कोई कम गंदे नहीं रहते। गंदे काम करने का बहाना भी नहीं चल सकता, क्योंकि माताएं बच्चों का मैला साफ करने से मेहतर तथा अछूत तो नहीं हो जातीं।

लेकिन यह काम उतने समय तक नहीं हो सकता जितने समय तक कि अछूत कौमें अपने आपको संगठित न कर लें। हम तो समझते हैं कि उनका स्वयं को अलग संगठनबद्ध करना तथा मुस्लिमों के बराबर गिनती में होने के कारण उनके बराबर अधिकारों की मांग करना बहुत आशाजनक संकेत हैं। या तो साम्प्रदायिक भेद का झंझट ही खत्म करो, नहीं तो उनके अलग अधिकार उन्हें दे दो। कौंसिलों और असेम्बलियों का कर्तव्य है कि वे स्कूल–कॉलेज, कुएं तथा सड़क के उपयोग की पूरी स्वतंत्रता उन्हें दिलाएं। जबानी तौर पर ही नहीं, वरन साथ ले जाकर उन्हें कुओं पर चढ़ाएं। उनके बच्चों को स्कूलों में प्रवेश दिलाएं। लेकिन जिस लेजिस्लेटिव में बालविवाह के विरुद्ध पेश किए बिल तथा मजहब के बहाने हाय–तौबा मचाई जाती है, वहां वे अछूतों को अपने साथ शामिल करने का साहस कैसे कर सकते हैं?

इसलिए हम मानते हैं कि उनके अपने जन–प्रतिनिधि हों। वे अपने लिए अधिक अधिकार मांगें। हम तो साफ कहते हैं कि उठो, अछूत कहलानेवाले असली जनसेवको तथा भाइयो! उठो! अपना इतिहास देखो। गुरु गोविन्द सिंह की फौज की असली शक्ति तुम्हीं थे! शिवाजी तुम्हारे भरोसे पर ही सब कुछ कर सके, जिस कारण उनका नाम आज भी जिन्दा है। तुम्हारी कुर्बानियां स्वर्णाक्षरों में लिखी हुई हैं। तुम जो नित्यप्रति सेवा करके जनता के सुखों में बढ़ोतरी करके और जिन्दगी संभव बना कर यह बड़ा भारी अहसान कर रहे हो, उसे हम लोग नहीं समझते। लैण्ड–एलियेनेशन एक्ट के अनुसार तुम धन एकत्र कर भी जमीन नहीं खरीद सकते। तुम पर इतना जुल्म हो रहा है कि मिस मेयो मनुष्यों से भी कहती हैं– उठो, अपनी शक्ति पहचानो। संगठनबद्ध हो जाओ। असल में स्वयं कोशिश किए बिना कुछ भी न मिल सकेगा। (Those who would be free must themselves strike the blow.) स्वतंत्रता के लिए स्वाधीनता चाहनेवालों को यत्न करना चाहिए। इंसान की धीरे–धीरे कुछ ऐसी आदतें हो गई हैं कि वह अपने लिए तो अधिक अधिकार चाहता है, लेकिन जो उनके मातहत हैं उन्हें वह अपनी जूती के नीचे ही दबाए रखना चाहता है। कहावत है– 'लातों के भूत बातों से नहीं मानते'। अर्थात् संगठनबद्ध हो अपने पैरों पर खड़े होकर पूरे समाज को चुनौती दे दो। तब देखना, कोई भी तुम्हें तुम्हारे अधिकार देने से इंकार करने की जुर्रत न कर सकेगा। तुम दूसरों की खुराक मत बनो। दूसरों के मुंह की ओर न ताको। लेकिन ध्यान रहे, नौकरशाही के झांसे में मत फंसना। यह तुम्हारी कोई सहायता नहीं करना चाहती, बल्कि तुम्हें अपना मोहरा बनाना चाहती है। यही पूंजीवादी नौकरशाही तुम्हारी गुलामी और गरीबी का असली कारण है। इसलिए तुम उसके साथ कभी न मिलना। उसकी चालों से बचना। तब सब कुछ ठीक हो जायेगा। तुम असली सर्वहारा हो... संगठनबद्ध हो जाओ। तुम्हारी कुछ भी हानि न होगी। बस गुलामी की जंजीरें कट जाएंगी। उठो, और वर्तमान व्यवस्था के विरुद्ध बगावत खड़ी कर दो। धीरे–धीरे होनेवाले सुधारों से कुछ नहीं बन सकेगा। सामाजिक आन्दोलन से क्रांति पैदा कर दो तथा राजनीतिक और आर्थिक क्रांति के लिए कमर कस लो। तुम ही तो देश का मुख्य आधार हो, वास्तविक शक्ति हो। सोए हुए शेरो! उठो और बगावत खड़ी कर दो।

(जून 1928, 'किरती' में प्रकाशित भगत सिंह के लेख 'अछूत का सवाल' का एक अंश)

दलाल स्ट्रीट और वाल स्ट्रीट कभी होली वार, धर्मयुद्ध और जिहाद से नहीं लड़ेगा। सनातनवादी मनोयुद्धों की संचालक शक्तियां अपने मानक से स्वीकार करती हैं कि हिंदुत्व की राजनीति के उभार के पीछे हिन्दू अर्थतंत्र का उभार है और वह वैश्विक पूंजीवाद का भी भागीदार है। निःसंदेह कोई प्रक्रिया आर्थिक क्रिया के बगैर असंभव है। इस क्रिया–प्रक्रिया को सोमनाथ से अयोध्या की रथयात्रा को भारत के सर्वशक्तिमान कॉर्पोरेट द्वारा प्रायोजित करने की घटना बखूबी दिखाती है। जैसा अर्थोन्माद वैसा धर्मोन्माद।

मानसिक जड़ता

विश्लेषण की स्पष्टता के लिए जिन नामों का संदर्भ दिया गया है, वे सभी अलग–अलग प्रयोगधर्मा हैं, लेकिन उनके प्रयोग उन अंतर्विरोधों से ग्रसित हैं, जो कहीं–न–कहीं भारतीय मन की मुक्ति में असाधारण चूक करती हैं। ये चूकें देखने में साधारण लगती हैं, परंतु विवेकीकरण की प्रक्रिया को निर्णायक क्षति पहुंचाती हैं। इससे सनातनवादी औपनिवेशिकता को बचने और मजबूत होने का मौका मिलता है। अमूमन, परंपरा के संरक्षण की आड़ में सनातनवाद भावावेश की बारूदी सुरंगें बिछाता रहता है। भावी पीढ़ियां जाने–अनजाने सनातनवाद की गुलामी को सामान्य प्रक्रिया मान लेती हैं। इस गुलामी में सनातनवादी उपसत्ताओं का योगदान तो है ही, इसमें सनातनवादी मूल सत्ताओं की भी निर्णायक भूमिका है। उत्पादन के तमाम स्रोतों, गतिविधियों और संबंधों पर सनातनवादी उत्तराधिकार निर्णायक है, जिससे गत्यात्मकता और नवाचार असंभव हो जाता है। परिणाम यह है कि 84 फीसदी राष्ट्रीय संपदा पर 20 फीसदी परिवारों का आधिपत्य है। यह भी सनातनवादी गुलामी की मूलसत्ता का आधार है। यही गुलामी साम्राज्यवादी वर्चस्व के लिए भी उर्वर जमीन मुहैया करती है। एक गुलामी दूसरी गुलामी के लिए अनुकूल होती है। नतीजा सामने है। एक ईस्ट इंडिया कंपनी गई। हजार कंपनियां, वित्तीय एजेंसियां और विश्व पूंजीवाद की नियामक संस्थाएं हमारी छाती पर बैठ गईं। हमारा नियमन करने लगीं। वे इसलिए घुसपैठ कर गईं, क्योंकि सदियों पुरानी मनोगतवादी विधानों से भारतीय मन को मुक्त नहीं किया गया। 'एपल' के मुख्य कार्याधिकारी टिम कूक ने 'हिन्दू' (9 अगस्त 2017) से बातचीत में कहा है कि वे तीन माह, एक साल या एक दशक नहीं, हजारों सालों तक यहां रहना चाहते हैं। भारत छोड़ो आंदोलन की पचहत्तरवीं वर्षगांठ पर उनका यह इरादा क्या जाहिर करता है? यह भी विचारणीय है कि यूरोपीय यूनियन डेढ़ अरब डॉलर खर्च कर ऐसा रोबोट तैयार करना चाहता है, जो मनुष्य के गुणसूत्र से चालित हो। सनातनवाद ने सदियों से भारतीय जन को ऐसा ही जिंदा रोबोट बना रखा है। यदि हम अपने गिरेबां में झांके तो स्पष्ट दिखेगा कि सनातनवाद निरंतर मानसिक जड़ता की प्रक्रिया चला रहा है। इस आधार पर क्या सनातनवाद अपने पोंगापंथ, ज्योतिष और छद्म विज्ञान के जरिए साम्राज्यवादी औपनिवेशिकता का मुकाबला करेगा? बंधक और बंद दिमागों का कोई देश कभी महासत्ता नहीं बन सकता? बस, वह इसका ढोल पीट सकता है। अव्वल तो महासत्तावाद भी प्रकारांतर से साम्राज्यवादी औपनिवेशिकता का दूसरा नाम है। गांधी देख लें, कहां आ गया स्वदेशी और हिंद स्वराज? भगत सिंह को क्या जवाब देगी भारतीय कौम? वह तो सदियों से सनातनवादी दुराग्रहों द्वारा खंड–खंड विभाजित है। आज की यही परिस्थिति है जिसे सनातनवाद और साम्राज्यवाद के ताने–बाने से बुना गया है। यहां चीन का एक प्रसंग उल्लेखनीय है। भारत के एक तत्कालीन राजपुरुष और अध्येता का बीजिंग विश्वविद्यालय में व्याख्यान था। उन्होंने भारतीय दर्शन, पौर्वात्य दर्शन और एशियाई दर्शन का सारगर्भित पाठ किया। उनकी विद्वता और वक्तृत्व का सानी नहीं था। उस आयोजन में प्रोटोकॉल छोड़कर माओ त्से तुंग भी आए थे। समारोह के अंत में उन्होंने संक्षेप में कुछ वाक्य कहे । उन्होंने कहा कि विद्वान् वक्ता ने जो व्याख्या की है, वह तो हम जानते ही हैं। इस क्षेत्र में भारतीय दर्शन के अवदान से परिचित हैं और उससे हमने बहुत कुछ लिया भी है। मेरी कुछ जिज्ञासाएं हैं, कुछ प्रश्न हैं।

सनातनवाद ने सदियों से भारतीय जन को रोबोट बना रखा है। यदि हम अपने गिरेबां में झांके तो स्पष्ट दिखेगा कि सनातनवाद निरंतर मानसिक जड़ता की प्रक्रिया चला रहा है। इस आधार पर क्या सनातनवाद अपने पोंगापंथ, ज्योतिष और छद्म विज्ञान के जरिए साम्राज्यवादी औपनिवेशिकता का मुकाबला करेगा? बंधक और बंद दिमागों का कोई देश कभी महासत्ता नहीं बन सकता?

भारत औपनिवेशिक सत्ता से चीन से पहले मुक्त हुआ। ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता ने अपनी शर्तों पर भारत को आजादी दी, जबकि चीन ने लड़कर औपनिवेशिक सत्ताओं से मुक्ति हासिल की। भारत आज भी औपनिवेशिक पकड़ से बाहर नहीं है, जबकि चीन प्रभावी राष्ट्र है या बन रहा है। इन प्रश्नों के साथ उन्होंने कारण भी गिनाए। उन्होंने ऐसे छः बिंदु बताये जिनका भारत ने निर्णायक समाधान नहीं किया। ये छः बिंदु हैं– धर्म, पूंजी, भूमि, शिक्षा, जाति और भाषा। भारत ने धर्म को खुला छोड़ दिया। पूंजी को स्वच्छंद रखा। भूमि का स्वामित्व निजी रहा। शिक्षा भ्रामक और असमान रही। जाति का उन्मूलन नहीं किया और विदेशी

भाषा का आधिपत्य कायम रखा। इसका कोई उत्तर राजपुरुष के पास नहीं था। भारतीय राज्य के पास होगा, लेकिन वह स्वीकार नहीं करेगा। यानी सनातनवादी अराजकता और औपनिवेशिकता का खुला खेल जारी रहा। भयानक प्रतिफल सामने हैं। भारत ऐतिहासिक अवसर चूक गया। उसके बहुदलीय लोकतंत्र ने सत्ता की होड़ में सनातनवादी औपनिवेशिकता के आगे समर्पण कर दिया। इसके समांतर अपने सैद्धांतिक प्रयोगों के लिए विवादित होकर भी पीपल्स रिपब्लिक ऑफ चायना ने राज्य को नास्तिक बनाए रखा है। पूंजीवादी सिद्धांत को अपनाने के बाद वह भी जन–मन को निस्तेज करने के लिए मनोगतवादी प्रवृत्तियों की आसानी से छूट दे सकता था। भूलना नहीं चाहिए कि सोवियत संघ के विघटन के अनेक कारणों में एक प्रमुख पोलिश चर्च की लिबरेशन थिओलॉजी भी है। लेक वालेसा का छद्म 'सॉलिडेरिटी मूवमेंट' इसी साजिश का सहचर था।

अराजकता और सभ्यता के अंधकूप

इस पृष्ठभूमि में यह लगता है कि क्या भारत खोए हुए अवसरों का देश है? अमेरिकी राजनयिक जान केनेथ गालब्रेथ ने भारत को 'फंक्शनिंग एनार्की' और पैट्रिक मोयनिहान ने 'डेंजरस प्लेस' कहा था। यानी अराजकता का राज्य और राज्य की अराजकता। खतरनाक दुरभिसंधियों का स्थल! इसमें सनातनवाद की भूमिका की निरंतर पड़ताल होनी चाहिए। इस पड़ताल के उपकरण भगत सिंह अपने ऐतिहासिक लेख ''मैं नास्तिक क्यों हूं'' में दे जाते हैं। दोहरी औपनिवेशिकता को उजागर करते हुए ये दो उद्धरण पठनीय हैंः– 1. "जैसा कि आपका विश्वास है, एक सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक एवं सर्वज्ञानी ईश्वर है, जिसने पृथ्वी या विश्व की रचना की, तो कृपा करके मुझे यह बताएं कि उसने यह रचना क्यों की? कष्टों और आफतों से भरी यह दुनिया असंख्य दुखों के शाश्वत और अनंत गंठबंधनों से ग्रसित। एक भी प्राणी सुखी नहीं। ...मेरे प्रिय दोस्तो ! ये सारे सिद्धांत विशेषाधिकार युक्त लोगों के आविष्कार हैं। ये अपनी हथियाई हुई उच्चता को इन सिद्धांतों के आधार पर सही ठहराते हैं.... सभी धर्म, सम्प्रदाय, पंथ और ऐसी ही संस्थाएं अंत में निर्दयी और शोषक संस्थाओं, व्यक्तियों तथा वर्गों की समर्थक हो गयी हैं। राजा के विरुद्ध विद्रोह हर धर्म में पाप है।''

इस उद्धरण में सनातनवादी औपनिवेशिकता की व्याख्या के बाद, दूसरे प्रसंग में वे इसी से जुड़ी साम्राज्यवादी औपनिवेशिकता की व्याख्या करते हैंः–2. ''मैं आपको यह बता दूं कि अंग्रेजों की हुकूमत यहां इसलिए नहीं है कि ईश्वर चाहता है, बल्कि इसलिए कि उनके पास ताकत है। वे हमें अपने प्रभुत्व में ईश्वर की सहायता से नहीं रखे हुए हैं बल्कि बंदूकों, रायफलों, बम और गोलियों, पुलिस और सेना के सहारे रखे हुए हैं। यह हमारी उदासीनता है कि वे समाज के विरुद्ध सबसे निंदनीय अपराध – एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र द्वारा अन्यायपूर्ण शोषण सफलतापूर्वक कर रहे हैं। कहां है ईश्वर? वह क्या कर रहा है? क्या वह मनुष्य जाति के कष्टों का मजा ले रहा है?"

मानवविरोधी सनातनवाद और साम्राज्यवाद को पहचानती भगत सिंह की यह विवेकवादी दृष्टि मूल द्वन्द्व से परिचित कराती है। इसीलिए सनातनवाद का एक प्रमुख रणनीतिकार–भाष्यकार तीन शत्रु घोषित करता है– नास्तिक, कम्युनिस्ट और मुसलमान। हालांकि, विवेकवादी नजरिए से धर्म के आधार पर व्यक्ति का वर्गीकरण या व्याख्या रुढ़ अवधारणा है। धार्मिक पहचान का कोई व्यक्ति वैचारिक रुपांतरण के जरिए विवेकवादी, कम्युनिस्ट और नास्तिक हो जाता है। भगत सिंह, सत्यभक्त, राधामोहन गोकुल, हसरत मोहानी, राहुल सांकृत्यायन, सतीदास मूंदड़ा जैसे हजारों नाम हैं। उस एहसान इलाही को कैसे भुलाया जा सकता है, जिसने 'लांगलिव रेवोल्यूशन' का उम्दा रूपांतरण 'इंकलाब जिंदाबाद' किया और जिसे पहली बार भगत सिंह और हसरत मोहानी ने पूरे उपमहाद्वीप में गुंजा दिया था। ये सभी सनातनवाद से विवेकवाद में रूपांतरण की अविस्मरणीय मिसाल हैं। इसीलिए ये सनातनवाद के निशाने पर हैं। सनातनवाद द्वारा चलाए जा रहे निरंतर मनोयुद्ध का विवेचन स्पष्ट करता है कि जमीनी लड़ाई के पूर्व वह मानसिक औपनिवेशीकरण की लड़ाई है ताकि मन और मस्तिष्क अंधकूप बना रहे। यही विलोपीकरण है। दो संदर्भों में इसकी पड़ताल करें। इन दिनों भारतीय राज्य स्वच्छता की राजनीति कर रहा है और गन्दगी की ढुलाई–सफाई को आध्यात्मिक अनुभव कहा जा रहा है ! सनातनवादी व्यवस्था में परजीवी समूहों की गंदगी की सफाई का क्रम निर्धारण कथित नीच समूहों पर था। अभी भी है। यानी गंदगी करना वर्चस्ववादी जातियों का अधिकार था और उसे ढोना दमित जातियों का कर्तव्य ! इस कर्म का तुच्छ मूल्य उच्च वर्ण तय करता था। यही व्यवस्था पूंजी, बाजार और उपभोक्तावादी तंत्र यह कहकर करता है कि जो सक्षम हैं वे बेइंतहा उपभोग करें। इस उपभोग से जो पूंजी संचय होगा, उसका कुछ हिस्सा रिसकर (ट्रिकल डाउन) तलछट के लोगों तक जाएगा। यानी सनातनवाद की गंदगी नीच तबका ढोए और विश्व पूंजीवाद के रिसाव से तलछट जीवनयापन करें। सूक्ष्मता से देखें तो दोनों घिनौनी व्यवस्थाओं में कितना साम्य है।

महाकवि सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' भी कहते हैं। "वर्णाश्रम एक ऐसी सामाजिक स्थिति है जो चिरंतन है। स्वाधीन समाज की इससे अच्छी वर्णना नहीं हो सकती। कोई समाज इस धर्म को मानता भले ही न हो पर वह संगठित इसी रूप में होगा।" निराला का संकेत वर्णाश्रम धर्म है। यह अमानवीय विलोपीकरण है और सभ्यता का अंधकूप भी।

मन और मस्तिष्क की मुक्ति

इसी पृष्ठभूमि में यह परिघटना विचारणीय है कि क्या भारत कोई मनोअंधकूप है, जिसमें सारे वैकल्पिक विचार, प्रयास और मुक्ति की कोशिशें समा जाती हैं? यह मनोअंधकूप किसने बनाया है? इसे सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की युद्धनीति में देखा जाना चाहिए कि किस प्रकार इसके जरिए भावावेश भड़का कर सनातनवादी शक्तियां भारत को अंधकूप में ले जा रही हैं। अतीत में वह आजीवकों, लोकायतवादियों, श्रमणधारा और विवेकवादी समूहों को निगल चुकी हैं और आज भी मुक्ति के वैकल्पिक विचारों को निगलने की युद्धनीति चला रही है। दरअसल, यह सांस्कृतिक राष्ट्रवाद भी सनातनी औपनिवेशीकरण है। वर्चस्व विस्तार के लिए ये चाणक्य, पातंजलि, पुष्यमित्र शुंग, कुमारिल भट्ट, शंकराचार्य आदि का नाम देशज धर्मराष्ट्रवाद या अखंड पुण्यभूमि के उन्नायकों के बतौर लेते रहे हैं, लेकिन ये सभी नाम विस्तारवादी धर्मराष्ट्रवाद, कठोर धर्मराज्यवाद और ब्राह्मणवादी उपनिवेशीकरण के संस्थापक सूत्रधार हैं। साफ तौर पर सनातनी मनोसत्ता ही कथित राज्य के भीतर असली राज्य है। जाहिर है कि सांस्कृतिक राष्ट्रवाद या राज्यवाद की जड़ें काफी पुरानी है। भले ही हम जाने–अनजाने इसे खंगालना न चाहें लेकिन यह आंतरिक दासता और वर्ण श्रेष्ठतावादी उपनिवेशीकरण है। इस धरातल पर भगत सिंह के वैचारिक विश्लेषणों का पाठ और पुनर्पाठ प्रासंगिक हो जाता है। वह आंतरिक औपनिवेशिकता के साथ साम्राज्यवादी औपनिवेशिकता के खिलाफ समान संघर्ष का विचार रखते हैं, जो विवेकवादी मानसिकता के निर्माण से ही संभव है। अराजकतावाद से विवेकवाद और वैज्ञानिक समाजवाद की ओर बढ़ते हुए अल्पजीवन में उन्होंने जो वैचारिक यात्रा की है, वह अन्य राष्ट्रनेता नहीं कर पाए। प्रसिद्ध अफ्रीकी चिंतक न्युगी वा थ्योंगो ने इसे 'डीकालोनाइजिंग द माइंड' कहा है यानी मन–मस्तिष्क का विउपनिवेशीकरण। यह बहुस्तरीय विउपनिवेशीकरण किसी मानव मन की मुक्ति की पहली शर्त है। अंतर्विरोध यह है कि भारतीय मन के विउपनिवेशीकरण की कथित देशज दावेदारी सनातनवादी शक्तियां भारतीय नहीं, बल्कि हिन्दू संस्कृति, हिन्दू सभ्यता और हिंदू गौरव का घटाटोप बांधकर करती हैं, जबकि अधिकांश विश्लेषक इसे चंद शक्तिशाली घटकों द्वारा वर्चस्व का उपक्रम बताते हैं। इस वर्चस्ववाद को विवेकशील मनोरचना और वैज्ञानिक समाज रचना ही चुनौती दे सकती है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवादियों यानी कम्युनिस्टों का गतिरोध

इस परिदृश्य में द्वन्द्वात्मक भौतिकवादियों यानी साम्यवादियों की सक्रियताओं पर भी विचार प्रासंगिक है, क्योंकि सनातनवाद– साम्राज्यवाद के घोषित अव्वल शत्रु वही हैं। स्पष्ट है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन ही वह दृष्टि देता है, जिससे मूलाधार और अधिरचना के औपनिवेशिक प्रपंचों को समझा जा सके। इस विचारधारा के पास तार्किक तत्वों के साथ परिवर्तनकारी नवाचार भी है, जिससे लैस होकर सचेत क्रियात्मकता संभव है। इस सैद्धांतिकी के पास सनातनवाद–साम्राज्यवाद का सटीक विश्लेषण करनेवाले बुद्धिजीवियों की कमी नहीं रही। इन विवेकशील बौद्धिकों ने वैज्ञानिक सत्यान्वेषण का पुरअसर काम भी किया, लेकिन व्यवहार में इसे लोकवृत्त तक पहुंचाने, लोकशिक्षण करने और निर्णायक लक्ष्य पाने की प्रक्रिया में विचलन रहा। इसके कारण परिणामात्मक संघर्ष नहीं हुआ। एक स्थापना दी गई कि उच्चतम वर्ग संघर्ष की भट्ठी में सारी सनातनवादी जड़ताएं जल जाएंगी। बाद में अतिसंसदवाद के कारण वर्ग संघर्ष का मन भी तात्कालिक, आधा–अधूरा और प्रतीकात्मक रहा। ऐसे में सनातनवादी प्रवृत्तियों को सशक्त होना ही था। जब सनातनवाद मजबूत होगा तब साम्राज्यवाद को ताकत मिल ही जाएगी।

साम्यवादी विचार के किसी संगठन ने सनातनवादी जड़ताओं का वैज्ञानिक पाठ जनता के सामने खुलकर नहीं रखा। सारे बौद्धिक उपकरण होते हुए भी मनोगतवादी, भावावेशमूलक और सनातनी आख्यानों–पुनरुत्थानों का पाठ–प्रतिपाठ करने से बचा जाता रहा।

एक प्रसंग है। लेखक राज थापर ने अपने संस्मरण में लिखा है कि तेलंगाना सशस्त्र संघर्ष के दौरान श्रीपाद अमृत डांगे ने कहा– 'घबराओ मत राज! इस देश को एक बार रक्तस्नान कर लेने दो। सब ठीक हो जाएगा।' तेलंगाना का रक्तस्नान भारतीय राज्य के रक्तस्नान के समक्ष रोक दिया गया। भारतीय राजसत्ता का रक्तस्नान कभी नहीं रूका। डांगे गुलाबी क्रांति की शरण में चले गए और वेदांत में द्वैत खोजने लगे। तेलंगाना विद्रोह में एक साम्यवादी जनकवि को 'लाल भवानी' दिखी। 'भवानी' का पुनर्मिथकीकरण ही वह सनातनी घुसपैठ है, जिसके विरुद्ध विवेकवाद को खड़ा होना चाहिए था। साम्यवादी विचार के किसी संगठन ने सनातनवादी जड़ताओं का वैज्ञानिक पाठ जनता के सामने खुलकर नहीं रखा। सारे बौद्धिक उपकरण होते हुए भी मनोगतवादी, भावावेशमूलक और सनातनी आख्यानों–पुनरुत्थानों का पाठ–प्रतिपाठ करने से बचा जाता रहा। बंगाल के चौंतीस वर्षों के वाम शासन काल में भांति–भांति के पूजा उन्मादों में कोई कमी नहीं आई। पूजा–पंडालों की शक्ति–राजनीति में काडर शामिल होता रहा और पंडालों में मार्क्सवादी बुकस्टाल भी लगते रहे। सनातनवादी कारखाने बढ़ते गए। उत्पादक कारखाने क्रमशः बंद होते रहे। मुख्यमंत्री ज्योति

बसु द्वारा राष्ट्रीय–बहुराष्ट्रीय कंपनियों से निवेश की हर अपील के बावजूद पूंजी का उत्पादक प्रवाह बंगाल में नहीं आया, लेकिन अनुत्पादक पूंजी सनातनी अपसंस्कृति को उन्मादित करती रही।

बंगाल में ही इन्दिरा युग में नौजवान कामरेडों का संहार हुआ, जिसका विवरण जेनरल जैकब ने अपनी किताब में दिया है। क्या यह खुला राज्यवादी हितसाधन नहीं था? केरल में दुनिया की पहली निर्वाचित साम्यवादी सरकार बनी, जिसे संविधानेत्तर शक्ति इन्दिरा गांधी (तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष)ने 'गुलाबी युग' में असंवैधानिक तरीके से विघटित करा दिया। वही केरल, विवेकानंद के शब्दों में 'जातियों का पागलखाना' बना रहा और उसी के छोर पर सनातनवादियों ने सनातनध्वजधारी विवेकानंद की ही मूर्ति स्थापित की, जिसका उद्घाटन भी इंदिरा गांधी ने ही किया। ये कुछ प्रमुख उदाहरण बताते हैं कि संसदीय साम्यवाद के प्रभाव क्षेत्रों में साम्राज्यवाद और सनातनवाद के एजेंडे को वही शक्ति अंजाम देती रही, जिसके सत्तारोहण को गुलाबी साम्यवादी ख्वाजा अहमद अब्बास ने 'रिटर्न ऑफ रेड रोज' कहा था। आखिर यह भ्रम क्यों? यह खुला सच है कि नौवें दशक में पंजाब में सनातनवाद–समाज्यवाद के खालिस्तानी दुष्चक्र में सर्वाधिक हत्याएं कम्युनिस्टों की हुईं, लेकिन इस जुड़वां दुष्चक्र के विरुद्ध सीधी मुहिम नहीं छेड़ी गई। साम्राज्यवाद को जरूर निशाने पर रखा गया। आधे मैदान में सक्रियता और आधे में निष्क्रियता। इस तेवर से दोहरी औपनिवेशिकताओं से आधी–अधूरी लड़ाई करता संसदीय साम्यवाद किनारे पर आ गया। काडर लड़ता रहा। जान देता रहा। रास्ते गुम होते गए। आत्मालोचन की प्रक्रिया से दूरी रही। परिणाम सामने हैं। क्रांति शब्दकोश में, प्रतिक्रांति मैदान में। हालांकि, इससे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की वैज्ञानिक महत्ता कम नहीं होती। दर्शन नहीं फिसला। फिसला नेतृत्व। जब नेतृत्व और संगठन ने सौ फीसदी संसदवादी–संशयवादी रास्ता चुन लिया और सामाजिक जनतंत्रवादियों से मोर्चा बनाता रहा तब वह उनके सनातनवादी– साम्राज्यवादी खेलों से कैसे बच सकता था? चरम अंतर्विरोध तब दिखा जब अयोध्या, आरक्षण और नई अर्थनीति (कमंडल–मंडल–भूमंडल) की आंधी आई। जब संसदीय सत्ता ने नौकरियों में सामाजिक वंचितों के लिए संवैधानिक विशेष अवसर का प्रावधान किया, तब भी संसदीय साम्यवाद दुविधा में दिखा, जबकि वह उच्चतम वर्ग संघर्ष की कोई भट्ठी नहीं जला रहा था, जिसमें सनातनी व्यवस्था राख हो जाती। इस दुविधा के कारण सामाजिक वंचितों में यह धारणा फैल गई कि संसदीय साम्यवादी नेतृत्व वर्ग खुद को सेनापति और नीचे के समूह को पैदल सेना मानकर चलता है। इस धारणा ने तो देश में साम्यवादी जनाधार ही कमजोर कर दिया। वैसे इस व्यवस्था से वर्ण–जाति–धर्म का उन्मूलन तो होना नहीं है। यह व्यवस्था सामाजिक वंचितों को थोड़ी भागीदारी देकर वर्णाश्रम का अनुषंगी बनाये रखती है। असली मुद्दा तो राष्ट्रीय संपदा–स्रोत में अस्सी प्रतिशत वंचितों की हिस्सेदारी का है, जो सनातनवाद–साम्राज्यवाद कभी नहीं चाहेगा। चाहने की बात तो दूर, वह तो कहेगा कि जब रूस, चीन और क्यूबा निजी संपत्ति को प्रश्रय दे रहा है तब भारतीय सामाजिक जनवादियों की क्या हैसियत है। गतिरोध गहरा है और नेतृत्व के आगे अंधेरा है। 'घोषित शत्रु' खुद आत्मघाती द्वन्द्व में है कि जनशत्रु से कैसे लड़ा जाए! मनोरचना जाल में फंसी है।

लंबे समय से गहराता संकट अब शब्दावलियों में भी व्यक्त हो रहा है। वैचारिक शब्दावलियां दफ्तरदाखिल हैं। लोकलुभावन शब्दों पर जुबान फिसल रही है। उदाहरणार्थ यह चरम परिणति काबिल गौर है। 2017 में एक शीर्ष साम्यवादी नेता ने नागपुर स्थित दीक्षाभूमि परिसर में 'संविधान की प्रासंगिकता–महत्ता' पर भाषण दिया। दीक्षाभूमि वह स्थल है जहां भीमराव आंबेडकर ने धम्मदीक्षा ली थी। उन्होंने कहा–"वह ब्राह्मण परिवार में जन्मे। मूलतः वे तेलगूभाषी हैं। अन्य राज्य में शिक्षा पाई। परप्रांतीय भाषाभाषी से शादी की। बंगाल से सांसद बने। अनेक विविधताओं को सादर आत्मसात किया। यही भारतीयता है। इस भारतीयता का संरक्षक संविधान है। इसकी रचना बाबा साहेब ने की है। बाबा साहेब के जीवन, कर्म और स्मृति से जुड़ी यह दीक्षाभूमि आज का तीर्थस्थल है। उनकी यात्रा तीर्थयात्रा है।" भाषण में उन्होंने कौरव–पांडव के मिथकों का भी सहारा लिया। एक–एक शब्द पर गौर करें। मिथकीय शब्दों और अस्मितावाद का मेला है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी शब्दावली का कहीं पता नहीं। स्पष्ट है कि सनातनवादी और संसदीय शब्दों का घालमेल है। अब तो राम–रावण, कृष्ण–कंस, भीम–जरासंध, देव–दानव के मिथकों का खुला सहारा लिया जा रहा है। वह भी सनातनी व्याख्या के तहत न कि प्रति व्याख्या के जरिए। वर्ग विश्लेषण गायब है। एक ओर सनातनी शक्तियां पुनर्मिथकीकरण की बमबारी कर रही हैं। दूसरी ओर अन्य विचार सारणियां मिथक–सत्ता का रहस्य खोल रही हैं। इस संघर्ष में सामाजिक जनवादी नेतृत्व का मौन और विचलन स्तब्ध करता है। कैसा परिणाम होता यदि गाय के नाम पर हिंसक राजनीति के विरोध में इतिहासकार डी.एन. झा की कृति 'होली काऊ' को जन–मन तक पहुंचाया गया होता! प्रसार माध्यमों में चुनाव या तो 'डांस ऑफ डेमोक्रेसी' है या समुद्रमंथन यानी देवासुर संग्राम। शब्दावलियों का यह धूर्त खेल वैसा ही है जैसे 24 जुलाई, 1991 को कहा गया कि देश आर्थिक उदारीकरण की विश्व व्यवस्था में आ गया है यानी इसके पूर्व की कल्याणकारी राज्य व्यवस्था अनुदार थी। कल्याणकारी हो या उदार,ये दोनों पूंजीवादी सत्ता के ही प्रपंच हैं। अनिवार्यता द्वन्द्वात्मक सत्य उजागर करने की है न कि मिथकीय आख्यान के

जरिए असत्य फैलाने की। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी समूह यह संघर्ष बखूबी कर सकता है जैसे भगत सिंह ने किया। भारतीय मानस सनातनवादी–साम्राज्यवादी औपनिवेशिकता में पिस रहा है। यह ऐतिहासिक सबक पूरा करना द्वन्द्वात्मक भौतिकवादियों का प्राथमिक कर्तव्य है, वरना वे विलोपवादी ही कहे जाएंगे। कौन द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी इसे स्वीकार करेगा? भारतीय राज्य को संविधान के जरिए तमाम गैर–बराबरियों को समाप्त करने में कोई रुचि कैसे हो सकती है, जबकि विषमतावादी घटकों से ही यह राज्य बना है यानी विषमतामूलक घटकों का समुच्चय ही राज्य है। इस जटिल संरचना की समझ द्वन्द्वात्मक भौतिकवादियों को अवश्य है। भले ही वे इसे मूल संघर्ष न बनाएं। यदि वे मूल संघर्ष नहीं करेंगे, तो समय उन्हें किस रूप में जानेगा, इसे वे अच्छी तरह जानते हैं। भगत सिंह ने मूल संघर्ष को समझा था।

एक प्रकाश स्तंभ

शहादत के करीब नौ दशक बाद देश की पांचवीं पीढ़ी की स्मृतियों में यदि भगत सिंह के विचार और संघर्ष हैं तो यह एक आश्वस्ति है, क्योंकि सनातनवादी आंधी ने पूरे उपमहाद्वीप से साम्राज्यवादी अपराधों और उसके विरुद्ध वैचारिक अभियानों को स्मृति से मिटाने की हर कोशिश कर रखी है। क्या यह दोनों औपनिवेशिकताओं का कदम ताल नहीं है? किन्हीं घटनाओं की निरंतरता पर क्षोभ और प्रतिवाद व्यक्त करना लोकतांत्रिक और इंसानी प्रतिक्रिया तो है लेकिन दूरगामी और वैकल्पिक प्रतिरोध नहीं है। ऐसा क्या है जो हमारी वैकल्पिक सोच, संघर्ष और सृजन को निरस्त कर रहा है? क्या सचमुच साम्राज्यवाद और सनातनवाद के मनोअंधकूप और मानसिक हवनकुंड में विकल्पों का विलोप हो जाता है? एक ओर धर्मसत्ताएं खुद को सनातन मानती हैं तो दूसरी ओर, पूंजीसत्ता अपने को अपरिहार्य कहती है। इन दोनों परस्पर औपनिवेशिक सत्ताओं से मनोगतवादी अवधारणाओं से नहीं लड़ा जा सकता। वैज्ञानिक और द्वन्द्वात्मक विचारदृष्टि ही इस निरंतर प्रतियुद्ध के सूत्र हैं। जब होलीवार, जिहाद और धर्मयुद्ध किसी न किसी रूप में सैन्य पूंजीवाद की ढाल बना हुआ है, तब सनातनवाद और साम्राज्यवाद की दोहरी औपनिवेशिकता से मुक्त होने के लिए विउपनिवेशीकरण और विवेकीकरण की क्रिया–प्रतिक्रिया ही समय की मांग है। इस संघर्ष में भगत सिंह एक प्रकाश स्तंभ हैं। वे इस आंतरिक ध्वनि को मन में भेजते हैं कि पहले अंतर्मन को सनातनवादी गाद से मुक्त करो तभी स्वच्छ जलधारा प्रवाहित होगी। विभाजनकारी ध्वनियों से मुक्ति के लिए विवेकवादी आंतरिक ध्वनि की समझ ही सही आधार है। इसके बिना भारत के गले से सनातनवादी–साम्राज्यवादी फांस नहीं हटेगी।

❐

ललई सिंह ग्रंथावली

उत्तर भारतीय नवजागरण के महानायक ललई सिंह का जन्म 1 सितंम्बर, 1911 ई. को गांव–कठारा, झिझक, जिला– कानपुर देहात, उत्तर प्रदेश में हुआ था। इन्हें उत्तर भारत का पेरियार भी कहा जाता है। पहले वे ग्वालियर नेशनल आर्मी में स्टेनो टाइपिस्ट हुए फिर सेना में सिपाही। उसके बाद ग्वालियर नेशनल आर्मी में हाईकमांडर हुए। यहां मनुवादी मानसिकता के सैनिकों द्वारा दलित सैनिकों के साथ स्वच्छ पानी की बावड़ी को लेकर भेदभाव किया जा रहा था। जिसके खिलाफ उन्होंने विद्रोह कर दिया। सेनाधिकारियों द्वारा उन्हें सस्पेंड किया गया। उन्होंने सीनियर ब्रिटिश ऑफिसर रेमज्यो म्योर से अंग्रेजी में अछूत भेदभाव के भारतीय सामाजिक संदर्भ को विधिवत समझाया। इस पर रेमज्यो ने उन्हें पदोन्नति के साथ पुनः बहाल किया।

देश की स्वतंत्रता के लिए ललई सिंह ने 1945 में सैनिकों के बीच आंदोलन छेड़ दिया। उसी समय क्रांतिकारी पुस्तक 'सिपाही की तबाही' लिखी। जिसका नाम सुनते ही ब्रिटिश अधिकारी ने जब्ती का आदेश दे दिया। रातो–रात जब्ती हो गई। उसके बाद भी रात में गुपचुप तरीके से हजारों प्रतियां छपवा कर ग्वालियर, मुरैना, भिंड के सैनिकों के बीच बंटवा दी गई जिससे सैनिकों ने बगावत कर दी। उन्हें रात में ही अरेस्ट करके जेल भेज दिया गया। जेल में 'कैदी महासभा' का गठन किया। यहां कैदियों के साथ आंदोलन का नेतृत्व किया। देश की स्वतंत्रता के लिए 41 दिनों की भूख हड़ताल की। देश की स्वतंत्रता के बाद जेल से रिहा हुए। उसके बाद इन्होंने जीवनपर्यंत आंदोलन किया। साहित्य लेखन, भ्रमण, भाषण, सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तन की अगुआई की। उनका सम्पूर्ण साहित्य और चिंतन धर्मवीर यादव गगन, रिसर्चर हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय के संकलन–संपादन में चार खंडों में सद्यः प्रकाशित होने वाला है।

भाग–1 – 1. आर्यों का नैतिक पोल प्रकाश, 2. आदिनिवासियों की पहचान, 3. सच्ची रामायण, 4. सच्ची रामायण की चाभी।

भाग–2 – साहित्य खंड (क) कविता, 1. शोषित संघर्ष, 2. भीम भजनावली (संपादन),

साहित्य खंड (ख) एकांकी और नाटक, 1. सिपाही की तबाही, 2. वीर संत माया बलिदान, 3. एकलव्य, 4. नागयज्ञ, 5. अंगुलिमाल।

भाग–3 – 1. शोषितों पर राजनैतिक डकैती, 2. शोषितों पर धार्मिक डकैती, 3. सामाजिक विषमता कैसे दूर हो।

भाग–4 – 1. देश में ब्राह्मणों का वर्चस्व, 2. बौद्धिक और सामाजिक लेख, 3. ललई सिंह का साक्षात्कार, 4. ललई सिंह के पत्र, 5. पेरियार ईवी रामास्वामी के भाषण, 6. डॉ अम्बेडकर के भाषण।

डोनाल्ड ट्रम्प से भी ज्यादा खतरनाक मोदी

अशोक स्वैन

हाल ही में, हार्वर्ड के दो प्रोफेसर, स्टीवन लेविट्स्की और डैनियल जिब्लाट की किताब, ''हाऊ डेमोक्रेसीज डाई'', आई है। इसमें लैटिन अमेरिका और यूरोप में लोकतांत्रिक संक्रमणों की गहरी पड़ताल की गई हैं। यह निष्कर्ष निकाला गया है कि एक देश के लोकतंत्र का क्षरण आमतौर पर चुनावों से शुरू होता है। सोवियत संघ के पतन के बाद, दुनिया भर में ज्यादातर मामलों में सेनाध्यक्षों ने नहीं, निर्वाचित नेताओं ने लोकतंत्र का गला घोंटा है।

लेविट्स्की और डैनियल जिब्लाट ने कुछ देशों के नाम गिनाए हैं, जहां के निर्वाचित निरंकुश शासकों ने अपने देश की लोकतांत्रिक संस्थाओं को तहस–नहस कर दिया। इनमें जॉर्जिया, हंगरी, निकारागुआ, पेरू, फिलीपींस, पोलैंड, रूस, श्रीलंका, तुर्की और यूक्रेन शामिल हैं।

पारम्परिक तख्तापलट के विपरीत, ये नए निरंकुश शासक संविधानों को निरस्त्र नहीं करते हैं, संसद पर कब्जा करने या अपने राजनीतिक विरोधियों का सफाया करने के लिए सड़कों पर टैंक नहीं उतारते हैं। वे लोकतंत्र का मुखौटा ओढ़े हुए इसे तहस–नहस करने के लिए निम्नलिखित तीन आम रणनीतियों को अमल में लाते हैंः

1. न्यायपालिका और सुरक्षा एजेंसियों पर नियंत्रण करके।
2. राजनीतिक विरोधियों और नागरिक समाज को हाशिए पर रखकर और।
3. चुनावों में अनुचित फायदे पाने के लिए चुनाव के नियमों को बदलकर।

यह किताब बतौर राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रम्प के पहले वर्ष के कार्यकाल में अमेरिका में लोकतंत्र की स्थिति के विश्लेषण पर केन्द्रित है। वे बताते हैं कि हालांकि ट्रम्प ने अमेरिका में विध्वंस की इन तीनों रणनीतियों पर अमल करने की कोशिश की है, मगर वह देश में लोकतंत्र खत्म करने में नाकाम रहे हैं, क्योंकि अमेरिकी न्यायपालिका, नौकरशाही और नागरिक समाज ने उन्हें ऐसा नहीं करने दिया।

यह सच है कि अमेरिका के प्रमुख लोकतांत्रिक संस्थान आदर्श रूप में अपनी भूमिका का निर्वहन नहीं कर रहे हैं, लेकिन वे ट्रम्प की गैर–लोकतांत्रिक सनक को नियंत्रित रखने के लिए समुचित कदम उठाते हुए दिखाई दे रहे हैं, और दुनिया का सबसे शक्तिशाली लोकतंत्र खुद को बरकरार रखने और फलने–फूलने में कामयाब रहा है। लेकिन यहां देखा जाना चाहिए कि दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र– भारत, वर्तमान में अपने लोकतांत्रिक चरित्र को बनाए रखने के लिए क्या कर रहा है?

लेखक 'पीस एंड कंफलिक्ट रिसर्च', उप्पसला विश्व-विद्यालय, स्वीडन में प्रोफेसर हैं।

भारत में 2014 के आम चुनाव के बाद, राजनीतिक विश्लेषक नरेंद्र मोदी की बहुसंख्यकवादी सरकार के तहत भारतीय लोकतंत्र के खतरों के बारे में अक्सर आगाह करते रहे हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है कि भारत के लोकतांत्रिक प्रयोग के पिछले सात दशकों के इतिहास में भारतीय लोकतंत्र और अल्पसंख्यक अधिकारों के समक्ष यह खतरा कभी इतना गंभीर नहीं रहा है। जनवरी 2018 में, भारत के सर्वोच्च न्यायालय के चार वरिष्ठतम न्यायाधीशों ने सार्वजनिक रूप से चेतावनी दी कि ''शीर्ष न्यायालय के संचालन के तरीके'' के कारण देश में लोकतंत्र खतरे में है।

यहां तक कि बहुत नपा–तुला बोलने वाले पूर्व प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने कुछ दिनों पहले देश को चेतावनी दी कि देश का लोकतंत्र खतरे में है, क्योंकि संसद समेत इसके लोकतांत्रिक संस्थानों को कार्य करने की अनुमति नहीं दी जा रही है। पूर्व मंत्री और वरिष्ठ भाजपा नेता यशवंत सिन्हा ने भी पिछले महीने इसी तरह की गंभीर चेतावनी दी है। उन्होंने भाजपा छोड़ने की भी यही वजह बताई है।

फासीवाद के प्रमुख चारित्रिक लक्षण

प्रसिद्ध लेखक और राजनीतिक अध्येता लारेंस डबल्यू. ब्रिष्ट ने अपने लेख 'द हालमार्क्स ऑफ फासिस्ट रेजीम' में जर्मनी, इटली समेत दुनिया के कई देशों के फासीवादी शासनों का गहन विश्लेषण करते हुए उसके 14 प्रमुख चारित्रिक लक्षण बताये हैं:

1. शक्तिशाली और अखंड राष्ट्रवाद – फासिस्ट शासन देशभक्ति के आदर्श वाक्यों, गीतों,नारों, प्रतीकों का दिन–रात इस्तेमाल करते रहते हैं। सर्वत्र देशभक्ति के झंडे ही झंडे दिखाई देते हैं।
2. दुश्मनों का डर दिखाते हुए सुरक्षा के नाम पर मानव अधिकारों का तिरस्कार किया जाता है। लोग घटनाओं को शासकों की दृष्टि से देखना शुरू कर देते हैं और यहां तक कि अत्याचार, हत्या, गैरकानूनी सजा को भी जायज ठहराने लगते हैं।
3. लोगों को कथित आम खतरों और दुश्मनों– उदार–वादियों, कम्युनिस्टों, समाजवादियों, आतंकवादियों आदि के खात्मे हेतु उन्मादी तरीके से संगठित किया जाता है।
4. सेना का वर्चस्व– हालांकि घरेलू समस्याएं विकराल रहती हैं पर उनकी अनदेखी कर सेना का वित्तपोषण किया जाता है। सेना की भूमिका में बढ़ोतरी होती है।
5. उग्र लिंग विभेदीकरण – फासिस्ट राष्ट्र की सरकारें पुरुष प्रभुत्व वाली होती हैं। पारपरिक लिंग भूमिकाओं को और कठोर बना दिया जाता है। गर्भपात का सख्त विरोध होता है और कानून व नीतियां होमोफोबिया से ग्रस्त होती हैं।
6. नियंत्रित मास मीडिया – मीडिया पर प्रत्यक्ष या परोक्ष सरकारी नियंत्रण होता है। सामान्य युद्धकालीन सेंसरशिप जैसा माहौल होता है।
7. राष्ट्रीय सुरक्षा का डर दिखाकर दिखा कर जनता के बीच जुनून पैदा किया जाता है।
8. धर्म और सरकार का अपवित्र गठबंधन – फासिस्ट देशों में सरकारें सबसे आम धर्म का आम राय में घालमेल करती हैं और राजनेता धार्मिक शब्दाडम्बरों का खूब इस्तेमाल करते हैं।
9. फासीवादी राष्ट्र में औद्योगिक व व्यवसायिक अभिजात वर्ग राजनेताओं को शक्ति से नवाजते हैं और अभिजात वर्ग और सरकार के बीच लाभप्रद रिश्ते की स्थापना होती है।
10. संगठित श्रम शक्ति फासिस्ट सरकारों के लिए वास्तविक खतरा होती है, लिहाजा श्रम संगठनों का पूरी तरह से खात्मा कर दिया जाता है या उनका कठोरता से दमन किया जाता है।
11. बुद्धिजीवियों और कला के प्रति तिरस्कार – फासीवादी सरकार उच्च्य शिक्षा तथा अकादमिक जगत के प्रति शत्रु भाव रखती है। उनके लिए इस क्षेत्र के लोगों को प्रताड़ित करना आम बात है। कला में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर अंकुश लगाया जाता है और वित्तीय मदद से इनकार किया जाता है।
12. फासिस्ट सरकारों के अधीन कानून लागू करने के लिए पुलिस को असीमित अधिकार दिए जाते हैं। देश भक्ति के नाम पर नागरिक आजादी पर कठोर अंकुश लगा दिया जाता है।
13. फासिस्ट सरकारों का संचालन मित्र समूहों द्वारा किया जाता है। सरकारी ओहदे पर मित्र मंडली को नियुक्त किया जाता है और जवाबदेही से बचने के लिए सरकारी शक्ति एवं प्राधिकारों का उपयोग किया जाता है। राष्ट्रीय संसाधनों तथा खजाने की लूट सामान्य बात होती है।
14. कभी–कभी होने वाले चुनाव महज दिखावा होते हैं। राजनीतिक विरोधियों के खिलाफ लांछन भरे प्रचार अभियान चलाये जाते हैं और कई बार उनकी हत्या तक कर दी जाती है। विधायिका के अधिकार क्षेत्र का प्रयोग वोटिंग संख्या तथा राजनीतिक प्रभाव क्षेत्र पर नियंत्रण के लिए किया जाता है।

क्या भारत में लोकतांत्रिक गिरावट के ये अशुभ आकलन सही हैं? यह निष्कर्ष निकालना इतना मुश्किल नहीं है कि न्यायपालिका या सुरक्षा एजेंसियों जैसे भारत के प्रमुख संस्थान अपने समकक्ष अमरीकी संस्थानों की तुलना में कम स्वतंत्र और डरपोक प्रकृति के हैं, ये उतने साहसिक नहीं हैं।

मिसाल के तौर पर, भारत की सीबीआई कभी भी एफबीआइ जितनी स्वतंत्र नहीं रही, और सीबीआई की ''पिंजरे के तोता'' वाली छवि वर्तमान शासन में और भी खराब हुई है। इसकी अलावा, संसदीय बहुमत को नियंत्रण में रखने की भारत के न्यायपालिका से जो सबसे बड़ी उम्मीद थी, वह भी टूट गई है।

हाल के दिनों में, अगर देश की आजादी के बाद नहीं भी तो 1975 के बाद, भारत के सुप्रीम कोर्ट की विश्वसनीयता शायद

सबसे निचले स्तर पर पहुंच गई है। भारत के लिए एक शक्तिशाली विपक्ष अत्यंत महत्वपूर्ण है, क्योंकि लोकतंत्र के अन्य

के उप्साला में थे। इस आयोजन में, उनका सार्वजनिक व्याख्यान ''लोकतंत्र और सामाजिक विकल्प'' पर था, जिसमें उन्होंने सुस्पष्ट ढंग से यह बताया कि चुनाव के समय नागरिक मतदान के लिए विकल्प कैसे चुनते हैं। अपने संबोधन में, उन्होंने 2016 के अमरीकी राष्ट्रपति चुनाव के बारे में ज्यादातर बातें की, अगरचे उन्होंने भारत के 2014 के आम चुनाव के बारे में भी सरसरी तौर पर बातें रखीं। हालांकि, जब मैंने उनसे पूछा कि अगर उन्हें ट्रम्प और मोदी के बीच चुनाव करना हो तो वो किसे चुनेंगे, तो उन्होंने जवाब में विस्तार से अपनी बात रखी। हालांकि, उन्हें पूरा यकीन था कि ट्रम्प अमरीकी लोकतंत्र के लिए जितना बड़ा खतरा हैं उसकी तुलना में मोदी भारतीय लोकतंत्र के लिए ज्यादा बड़ा खतरा हैं। ऐसा भारत की संस्थाओं और नागरिक समाज के कमजोर होने के कारण है।

भारत में नरेंद्र मोदी सरकार भारतीय लोकतंत्र के विध्वंस के लिए ट्रम्प की सभी तीन रणनीतियों का इस्तेमाल कर रही है। हालांकि ट्रम्प ने अपने देश की न्यायपालिका, नौकरशाही, सुरक्षा एजेंसियों और चुनाव नियमों को खोखला करने का प्रयास किया, लेकिन उन्हें ज्यादा कामयाबी नहीं मिली।

जबकि ट्रम्प के मातहत भी अमेरिका में लोकतंत्र शायद इतनी आसानी से खत्म नहीं होगा, लेकिन नरेंद्र मोदी के मातहत भारतीय लोकतंत्र के भविष्य के बारे में ऐसी उम्मीद करना मूर्खतापूर्ण होगा।

(डेलीओ डॉट इन से साभार, हिंदी रूपांतरण– मनीष शांडिल्य)

प्रो. सुरेन्द्र स्निग्ध
मुन्द्रिका सिंह यादव
रजनी तिलक
अरुण अभिषेक
छोटेलाल बहरदार
विष्णु खरे
सोमनाथ चटर्जी
मिथिलेश यादव

के निधन पर **सबाल्टर्न परिवार** की ओर से उन्हें विनम्र **श्रद्धांजलि**

मुखर होती आवाज की घेराबंदी

अरूंधति रॉय

बुकर पुरस्कार से सम्मानित चर्चित लेखिका। साथ ही मानवाधिकारों और पर्यावरण के मुद्दे पर सक्रिय।

जिस चीज के बारे में हम लोग बहुत दिनों से बहस कर रहे हैं, उसे 30 अगस्त 2018 के अखबार ने स्पष्ट कर दिया। इंडियन एक्सप्रेस ने अपने पहले पन्ने की रिपोर्ट में लिखा है, ''पुलिस ने न्यायालय को बताया: जिन्हें पकड़ा गया वे फासीवादी सरकार को उखाड़ फेंकने की साजिश रच रहे थे।'' हमें अब यह पता हो जाना चाहिए कि हम एक ऐसे शासन के अधीन हैं जिसे उसकी अपनी पुलिस ही फासीवादी कहती है। आधुनिक भारत में,अल्पसंख्यक होना ही अपराध है। मार दिया जाना अपराध है। पीट–पीट कर मार दिया जाना अपराध है। गरीब होना अपराध है। गरीबों के हक की बात करना अपराध है। सरकार को उखाड़ फेंकना अपराध है।

जब पुणे की पुलिस ने कई जाने–माने सामाजिक कार्यकर्ताओं, लेखकों, वकीलों और पादरियों के घरों पर एक साथ पूरे देश में दबिश देकर पांच लोगों को– जिसमें तीन बड़े मानवाधिकार कार्यकर्ता और दो वकील हैं– बहुत ही हास्यास्पद या सतही आरोपों में गिरफ्तार किया, तो सरकार इस बात को बहुत ही अच्छी तरह जानती थी कि इसका प्रतिरोध होगा। इस कदम को उठाने से पहले अगर सरकार यह सब जानती थी कि उसका पूरे देश में विरोध होगा और इस तरह के प्रेस कांफ्रेंस भी होंगे तो उसने ऐसा किया क्यों?

हालिया उपचुनाव के वास्तविक वोटर आंकड़ों और देशव्यापी सर्वेक्षण को एक साथ मिलाकर लोकनीति–सीएसडीएस के अध्ययन से पता चलता है कि बीजेपी और प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी बहुत ही तेजी से अपनी लोकप्रियता खो रहे हैं। इसका मतलब यह हुआ कि हम खतरनाक दौर में प्रवेश कर रहे हैं। अपनी लोकप्रियता में हो रही गिरावट की असली वजहों से जनता का ध्यान हटाने और विपक्षी दलों के बीच बन रही एकजुटता को तोड़ने के लिए अब निर्ममता से लगातार साजिशें रची जाएंगी। अभी से लेकर चुनाव तक लगातार सर्कस चलता रहेगा जिसमें गिरफ्तारियां, हत्याएं, पीट–पीट कर हत्या, बम विस्फोट, फर्जी हमले, दंगे और नरसंहारों का दौर शुरू होगा। हमने चुनाव के माहौल को सभी तरह की हिंसाओं से जोड़ना सीख लिया है। डिवाइड एंड रूल (बांटो और राज करो) तो था ही, अब इसमें यह नया शब्द भी जोड़ दीजिए डायवर्ट एंड रूल (ध्यान भटकाओ और राज करो)। अभी से लेकर आने वाले चुनाव तक हमें पता भी नहीं होगा कि कब और कैसे हमारे ऊपर आग का गोला गिरेगा और उस अग्निवर्षा का रूप कैसा होगा। इसलिए इससे पहले कि मैं वकीलों और एक्टिविस्टों की गिरफ्तारी के बारे में बातें करूं– बस मैं कुछ दूसरी बातों को दुहराना चाहती हूं कि हमें अग्निवर्षा के बावजूद भटकना नहीं चाहिए, चाहे जितनी भी विचित्र घटनाओं का हमें सामना करना पड़े।

1. आठ नवंबर 2016 को जब प्रधानमंत्री मोदी ने टीवी पर नमूदार होकर देश के 80 फीसदी प्रचलित नोटों को एक झटके में बंद कर दिया, उस घटना को घटे एक वर्ष और नौ महीने हो गए हैं। ऐसा लगता है कि उनके उस फैसले से उनके कैबिनेट के मंत्री भी भौचक थे। अब भारतीय रिजर्व बैंक ने घोषणा की है कि 99 फीसदी से अधिक राशि बैंकों में वापस आ चुकी है। इंगलैंड के गार्जियन अखबार ने 30 अगस्त को ही लिखा है कि इससे देश की अर्थव्यवस्था का एक फीसदी सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) घट गया है और लगभग 15 लाख नौकरियां खत्म कर दी गई हैं। इस बीच सिर्फ नए नोट को छापने में कई हजार करोड़ रूपए ऊपर से खर्च हो गए हैं। नोटबंदी के बाद माल और सेवा कर (जीएसटी) लागू कर दिया गया, जो नोटबंदी से जूझ रहे छोटे व मझोले व्यापारियों के लिए दूसरा बड़ा झटका था। इससे छोटे व मझोले व्यापारियों और खासकर गरीबों को भारी नुकसान का सामना करना पड़ा है जबकि बीजेपी के करीबी कई निगमों ने अपनी संपत्ति में कई गुणा बढ़ोतरी कर ली है। विजय माल्या और नीरव मोदी जैसे व्यवसायियों को सरकार ने हजारों करोड़ों की सार्वजनिक संपत्ति को लेकर भाग जाने दिया और सरकार मूकदर्शक बनकर देखती रही। इस तरह के

क्रियाकलापों में हम किसी तरह की जवाबदेही की उम्मीद रखते हैं? कुछ नहीं? बिल्कुल शून्य? इसी बीच, जब 2019 में लोकसभा चुनाव की तैयारी शुरू हो गई है, भारतीय जनता पार्टी सबसे अमीर राजनीतिक दल बन गई है। सबसे अपमानजनक यह है कि हाल ही में पेश किए गए चुनावी बॉड में यह कहा गया है कि राजनीतिक दलों को दान दिए गए चंदे का स्रोत पूरी तरह से गुप्त रखा जाएगा।

2. हम सभी को 2016 का मुबंई में 'मेक इन इंडिया' ईवेंट याद है जिसका उद्घाटन मोदी जी ने किया था और उस सांस्कृतिक महोत्सव में भीषण आग लग गई थी जिसमें उसका सबसे बड़ा पंडाल जलकर खाक हो गया था। खैर, दरअसल 'मेक इन इंडिया' के आइडिया को राख बनाने वाली चीज राफेल लड़ाकू विमान का वह सौदा है जिसकी पेरिस में प्रधानमंत्री ने कदाचित अपने रक्षामंत्री की जानकारी के बगैर ही घोषणा कर दी थी। यह घोषित शिष्टाचार के पूरी तरह खिलाफ है। हम मोटे तौर पर तथ्यों से वाकिफ हैं– कांग्रेसनीत यूपीए सरकार के तहत यह सौदा 2012 में ही किया जा चुका था जिसके तहत हिन्दुस्तान एरोनॉटिक्स लिमिटेड की मदद से अपने ही देश में इसके कल–पुर्जों को जोड़ना था। इस सौदे को तो मोदी सरकार ने भंग कर दिया और इसका एक नया मसविदा तैयार किया गया। हिन्दुस्तान एरोनॉटिक्स, जो एक सरकारी कंपनी है, को अब इस सौदे से पूरी तरह गायब कर दिया गया है। कांग्रेस पार्टी के अलावा अन्य व्यक्तियों का, जिन्होंने इस सौदे का अध्ययन किया है– कहना है कि इसमें व्यापक पैमाने पर भ्रष्टाचार हुआ है और उन्होंने रिलायंस डिफेंस लिमिटेड के शामिल किए जाने पर सवाल भी उठाए हैं, क्योंकि उसने आज तक कभी हवाई जहाज बनाया ही नहीं है। विपक्ष ने संयुक्त संसदीय समिति से इस सौदे की जांच की मांग की है। क्या हमें इसकी अपेक्षा है? या फिर हमें अनिवार्यतः इन सभी जहाजों को बिना निगले ही पचा लेना चाहिए?

3. पत्रकार और एक्टिविस्ट गौरी लंकेश की हत्या में कर्नाटक पुलिस की जांच में कई लोगों की गिरफ्तारियां हुई हैं। इसके क्रियाकलापों से दक्षिणपंथी हिन्दूवादी संगठन सनातन संस्थान जैसे अनेकों कार्यों की जानकारी मिली है। इससे पता चलता है कि उनकी जड़ें इतना विस्तृत हैं कि उनके पास आतंक फैलाने का पूरी तरह से तैयार एक गुप्त नेटवर्क है, उनके पास हिटलिस्ट है, उनके छुपने–छुपाने की अपनी जगह है, हथियार है,गोला–बारूद है, हत्या करने की तैयारी है, बम लगाने की तकनीक है और जहरशुमारी का तरकीब भी है। ऐसे कितने संगठन हैं जिनके बारे में हमें जानकारी है? इस तरह के और कितने गुप्त संगठन काम कर रहे हैं? वे लोग इस बात से आश्वस्त होंगे कि उसे ताकतवर लोगों का वरदहस्त है और संभवतः पुलिस का संरक्षण भी प्राप्त है। उसने कितनी योजनाएं हमारे लिए बनाकर रखी हैं? कितने फर्जी हमले? असली कितने? ये कहां–कहां होंगे? कश्मीर में? अयोध्या में? या फिर कुंभ के मेले में? कितनी आसानी से वे किसी भी या सभी चीजों को– चाहे छोटा हो या बड़ा उत्पात मचाकर पालतू मीडिया घरानों की मदद से वे पटरी से उतार दे सकते हैं। इन असली खतरों से हमारा ध्यान भटकाने के लिए अभी ये गिरफ्तारी की गई हैं।

4. द्रुत गति से शैक्षणिक संस्थानों को नष्ट किया जा रहा है। बेहतर रिकार्ड वाले विश्वविद्यालयों को नष्ट किया जा रहा है और प्रेत की तरह सिर्फ कागजों पर मौजूद विश्वविद्यालय को महिमामंडित किया जा रहा है। तार्किक रूप से यह सबसे दुखदायी है। यह तरह–तरह से किया जा रहा है। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय (जेएनयू) को देखते–देखते हमारी आंखों के सामने मिट्टी में मिलाया जा रहा है। वहां के विद्यार्थियों और कर्मचारियों पर लगातार हमले हो रहे हैं। कुछ टीवी चैनलों ने झूठा और नकली वीडियो दिखाकर, दुष्प्रचार करके वहां के छात्रों की जिंदगी खतरे में डाल दी है। उमर खालिद जैसे युवा स्कॉलर पर जानलेवा हमला हुआ, क्योंकि उसके खिलाफ लगातार झूठ बोलकर उसे बदनाम किया जाता रहा। झूठे इतिहास और बेवकूफियों से भरे पाठ्यक्रम से हम इतने जाहिल हो जाएंगे कि हम उससे उबर ही नहीं पाएंगे। और अंत में, शिक्षा का निजीकरण किए जाने से, आरक्षण से मिले थोड़े बहुत लाभ का भी सत्यानाश किया जा रहा है। हम शिक्षा में फिर से ब्राह्मणवाद का प्रादुर्भाव देख रहे हैं, जिसपर कॉरपरेट का मुलम्मा चढ़ा हुआ है। दलित, आदिवासी और पिछड़े छात्र–छात्राओं को एक बार फिर से शिक्षण संस्थाओं से बाहर धकेला जा रहा है क्योंकि अब वे मंहगी फीस नहीं भर सकते हैं। यह शुरू हो चुका है। यह किसी भी रूप में स्वीकार्य नहीं है।

5. कृषि क्षेत्र में भीषण परेशानी, किसानों की आत्महत्या में लगातार बढ़ोतरी, मुसलमानों की पीट–पीटकर हत्या, दलितों पर हो रहे लगातार हमले, आम लोगों पर अत्याचार, सवर्णों के अत्याचार के खिलाफ तनकर खड़े होने की कोशिश करने वाले भीम आर्मी के नेता चंद्रशेखर की गिरफ्तारी, अनुसूचित जाति और जनजाति अत्याचार अधिनियम को कमतर करने का प्रयास। इन सबसे हमारा ध्यान भटकना नहीं चाहिए। यह सबकुछ कहने के बाद मैं हाल में हुई गिरफ्तारियों पर बात करना चाहती हूं।

जिन पांच लोगों को गिरफ्तार किया गया है– वरनॉन गोनजाल्विस, अरुण फरेरा, सुधा भारद्वाज, वरवर राव और गौतम नवलखा– इनमें से एक भी व्यक्ति यलगार परिषद् की 31 दिसबंर, 2017 को हुई रैली में उपस्थित नहीं थे। वे लोग अगले दिन हुई उस रैली में भी नहीं थे जिसमें लगभग 3 लाख से अधिक लोग, जो अधिकतर दलित थे, शामिल हुए थे, जो भीमा–कोरेगांव की

200वीं वर्षगाठ मनाने के लिए जमा हुए थे।(दलित ब्रिटिश हुकूमत के साथ मिलकर उत्पीड़क पेशवा के खिलाफ लड़े थे। कुछ गिनी–चुनी जीत में यह एक है जिसे उत्पीड़ित दलित गर्व के साथ मना सकते हैं)। यलगार परिषद् दो विशिष्ट सेवानृवित्त जजों– जस्टिस सावंत और जस्टिस कोलसे पाटिल द्वारा बुलाई गई थी। रैली के अगले दिन हिन्दुत्व के उग्रपंथियों द्वारा हमले किए गए, जिसके चलते कई दिनों तक वहां अशांति का माहौल रहा। इसके दो आरोपी मिलिन्द एकबोटे और संभाजी भिड़े हैं। दोनों अब भी बाहर हैं। उनके एक समर्थक द्वारा जनवरी 2018 में दर्ज कराई गई एफआईआर के बाद पुणे पुलिस ने पांच एक्टिविस्टों– रोना विल्सन, सुधीर ढावले, शोमा सेन, महेश राउत और वकील सुरेन्द्र गाडलिंग को गिरफ्तार कर लिया। उन लोगों पर आरोप है कि वे रैली के बाद हुई हिंसा के लिए जिम्मेदार हैं। साथ ही, वे लोग प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी की हत्या की साजिश भी रच रहे थे। उन पर गैरकानूनी क्रियाकलाप रोकथाम अधिनियम के तहत मुकदमा चल रहा है और वे अभी तक हिरासत में हैं। वे भाग्यशाली लोग हैं जो अभी भी जिंदा हैं, क्योंकि इशरत जहां, सोहराबुद्दीन और कौसर बी के ऊपर भी यही आरोप लगाए गए थे, लेकिन उनमें से कोई भी अपने मुकदमे का ट्रायल देखने के लिए जिंदा नहीं रह पाया।

जो भी दल सत्ता में होते हैं चाहे वह कांग्रेसनीत यूपीए की सरकार हो या बीजेपी की सरकार हो– वे आदिवासियों और दलितों पर किए जा रहे हमले को माओवादी या नक्सली कहकर सही साबित करते हैं। मुसलमानों को चुनावी गणित से लगभग गायब कर दिया गया है लेकिन सभी राजनीतिक दल अब भी दलितों और आदिवासियों को वोट बैंक के रूप में देखते हैं। एक्टिविस्टों को गिरफ्तार करके, उन्हें माओवादी या नक्सली कहकर, सरकार दलित आकांक्षाओं को कमजोर और अपमानित कर रही है जबकि दूसरी तरफ सरकार ऐसा दिखा रही है कि वह "दलित मुद्दों" को लेकर संवेदनशील है। इस वक्त जब हमलोग यह बात कर रहे हैं, पूरे देश में हजारों गरीबों और वंचितों को जेल में डाल दिया गया है, जो अपने स्वाभिमान, हक और हुकूक की लड़ाई लड़ रहे थे– उन पर राजद्रोह के मुकदमे दर्ज किए गए हैं, जिसकी सुनवाई भी नहीं हो रही है और वे भीड़ भरी जेलों में सड़ रहे हैं।

जिन दस लोगों को सरकार ने गिरफ्तार किया है, उनमें तीन वकील और सात मशहूर एक्टिविस्ट हैं, ऐसा करके उसने हजारों लोगों को आशा और न्याय का प्रतिनिधित्व दिलाने से वंचित कर दिया है क्योंकि यही लोग उन मजलूमों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। वर्षों पहले, जब सरकार समर्थित गैरकानूनी फौजी जत्था सलवा जुडूम बस्तर में आदिवासियों के पूरे के पूरे गांव को जला देता था, उनका कत्लेआम किया जा रहा था, तब छत्तीसगढ़ पीपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज–(पीयूसीएल) के महासचिव डॉक्टर बिनायक सेन ने पीड़ितों की आवाज को बुलंद किया था। जब बिनायक सेन को जेल में डाल दिया गया, तब सुधा भारद्वाज ने उस मसले को पुरजोर तरीके से उठाया था। वे वर्षों से उसी क्षेत्र में रहकर ट्रेड यूनियन चलाते हुए वकालत कर रही थीं। प्रोफेसर साई बाबा, जो बस्तर में अर्धसैनिक बलों द्वारा किए जा रहे अत्याचार की बात उठा रहे थे, उन्होंने बिनायक सेन के पक्ष में आवाज उठाना शुरू कर दिया। जब साईबाबा को गिरफ्तार कर लिया गया तब उनके पक्ष में रोना विल्सन खड़े हो गए। सुरेन्द्र गाडलिंग साईबाबा के वकील थे। जब रोना विल्सन और सुरेन्द्र गाडलिंग को गिरफ्तार किया गया तो उनके लिए सुधा भारद्वाज, गौतम नवलखा और दूसरे लोग खड़े हो गए और यह गिरफ्तारियां ऐसे ही चले जा रही हैं।

सबसे कमजोर तबकों की घेराबंदी की जा रही है और उनकी आवाज दबाई जा रही है। मुखर लोगों को कैद किया जा रहा है। भगवान बचाए इस देश को।

अनुवाद– जितेन्द्र कुमार
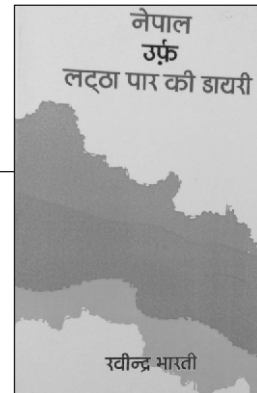
रवीन्द्र भारती अपनी किताब में उन ऐतिहासिक तथ्यों को रेखांकित करते हैं जिन्होंने भारत और नेपाल के लोगों की किस्मत को साझा बनाया। उन्होंने अत्यंत सधे अंदाज में बीसवी सदी के 50 के दशक से लेकर बी.पी. कोईराला के निधन तक नेपाली राजनति की ही नहीं, अंतर्धारा को भी सहज, सरल तरीके से मूर्त किया है।

धर्मेन्द्र सुशांत सूत्र

किताब– नेपाल उर्फ लट्ठा पार की डायरी
लेखक– रवीन्द्र भारती
प्रकाशक– शरारे प्रकाशन, बी.बी. / 6बी जनकपुरी, नई दिल्ली–110058
मूल्य– 275 / –
पृष्ठ– 163

सवालों से डरा हुआ धर्म–तंत्र

अरविंद शेष

कुछ साल पहले कुछ कट्टरपंथी हिन्दू समूहों ने इस बात पर संतोष जताया था कि महाराष्ट्र सरकार द्वारा लाए गए अंधविश्वास विरोधी कानून का भारी विरोध हुआ। वे समूह शायद इस कानून को हिन्दुत्व को खत्म करने की साजिश मानते हैं। ऐसा करते हुए हिन्दुत्व के वे उन्नायक खुद ही बता रहे थे कि चूंकि हिन्दुत्व की बुनियाद अंधविश्वासों पर ही टिकी है, इसलिए अंधविश्वासों का खत्म होना, हिन्दुत्व के खत्म होने जैसा होगा। हालांकि यह केवल हिन्दुओं के धर्म–ध्वजियों का खयाल नहीं है। सभी धर्म और मत के 'उन्नायक' यही कहते हैं कि सवाल नहीं उठाओ, जो धर्म कहता है, उसका आंख मूंद कर पालन करो। और धर्म की सांस से जिंदा तमाम लोगों के भीतर का भय बाहर आने के लिए छटपटाते सारे सवालों की हत्या कर देता है। हमारी विडंबना यह है कि अपने जिन "उद्धारकों" से हम सवाल उठाने की उम्मीद कर रहे होते हैं, वे खुद एक ऐसा मायावी लोक तैयार करने में लगे होते हैं, जहां कोई सवाल नहीं होता। दरअसल, वे हमारे स्वघोषित "उद्धारक" होते ही इसीलिए हैं कि न केवल उनकी "भूदेव" की पदवी कायम रहे, बल्कि एक ऐसी व्यवस्था भी अनंत काल तक बनी रहे, जिसमें अंधकार का साम्राज्य हो और समूचे समाज को अंधा बनाए रखा जा सके।

खासतौर पर जिस हिन्दुत्व पर हम गर्व से अपनी छाती ठोंकते रहते हैं, उसमें यह साजिश ज्यादा विकृत इसलिए हो जाती है, क्योंकि यहां यह केवल आस्थाओं का कारोबार नहीं होता, बल्कि जन्म के आधार पर ऊंची और नीची कही जाने वाली जातियों की मानसिक और चेतनागत अवस्थिति बनाए रखने में भी अंधविश्वासों और आस्थाओं को हथियार के बतौर इस्तेमाल में लाया जाता है।

नरेंद्र दाभोलकर, गोविंद पानसरे, एमएम कलबुर्गी और गौरी लंकेश की हत्याओं में कट्टर हिन्दुत्व से जुड़े लोगों को पकड़ा गया है। अगर इन सबके हत्यारों के तार एक–दूसरे से जुड़े पाए जा रहे हैं तो इस पर हैरान होने की जरूरत शायद नहीं है। ये चारों इसलिए मार डाले गए कि वे इंसान को दिमागी तौर पर शून्य बनाने वाले उन आस्थाओं–विश्वासों को सवालों के कठघरे में खड़ा करते हैं। और जाहिर है, ये सवाल चूंकि आखिरकार सामाजिक सत्ताओं के ढांचे को तोड़ते–फोड़ते हैं, इसलिए इस तरह के सवाल उठाने वाले लोगों से "मुक्ति" के लिए सीधे उन्हें खत्म करने का ही रास्ता अख्तियार किया जाता है।

धर्म, राजनीति, समाज और सिनेमा पर सबाल्टर्न नजरिये से सर्वथा भिन्न लेखन के लिए चर्चित। 'गाय की पूंछ' (कहानी संकलन) और सिनेमा पर एक पुस्तक प्रकाशनाधीन।

जाहिर है, बेमानी पारलौकिक विश्वासों को हथियार बना कर जड़ता की व्यवस्था को बनाए रखने में लगे लोगों–समूहों के पास अपने पक्ष में कोई तर्क नहीं होता, इसलिए वे सवालों से डरते हैं। अव्वल तो उनकी कोशिश यह होती है कि एक पाखंड और धोखे पर आधारित व्यवस्था को लेकर किसी तरह का सवाल नहीं उठे और इसके लिए वे सवालों और संदेहों को आस्था का दुश्मन घोषित करते हैं। वहीं एक भय की उपज पारलौकिकता की धारणाओं–कल्पनाओं में जीता व्यक्ति सवाल या संदेह करने को अपनी "आस्था" की पवित्रता भंग होना मानता है। अगर किन्हीं स्थितियों में किसी व्यक्ति के भीतर आस्था के तंत्र के प्रति शंका पैदा होती है और वह इसे जाहिर करता है तो धर्माधिकारियों से लेकर उनके अनुचरों तक की ओर से उसकी आस्था में खोट बताया जाता है या उसे अपवित्र घोषित कर दिया जाता है।

इसके अलावा, सवालों से निपटने के लिए एक और तरीका अपनाया जाता है। सवाल उठाने वाले को संदिग्ध बता कर उसके सवालों पर पूरी तरह चुप्पी साध ली जाती है। इससे भी हारने के बाद अक्सर धर्माधिकारी यह कहते पाए जाते हैं कि प्रश्न उठाने वाला व्यक्ति "ईश्वर का ही दूत है... और ऐसा करके वह वास्तविक भक्तों की परीक्षा ले रहा है।" कई बार उसे मनुष्य–मात्र की दया का

गौरी लंकेश (9 जनवरी 1962–5 सितम्बर 2017)
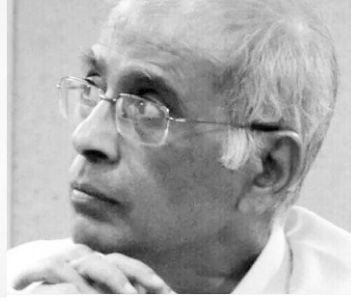
नरेंद्र दाभोलकर (1 नवम्बर 1945–20 अगस्त 2013)

गोविन्द पानसारे (26 नवम्बर 1933–20 फरवरी 2015)
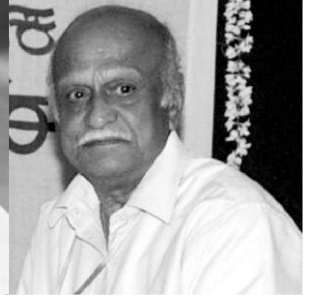
एम.एम. कलबुर्गी (28 नवम्बर 1938–30 अगस्त 2015)

पात्र भी घोषित कर दिया जा सकता है। इसके बावजूद जब ''धर्म'' की व्यवस्था पर खतरा बढ़ता जाता है, तब खतरे का जरिया बने व्यक्ति की आवाज को शांत करने के लिए उस रास्ते का सहारा लिया जाता है, जिसमें नरेंद्र दाभोलकर को अपनी जान गंवानी पड़ी।

सामाजिक विकास के एक ऐसे दौर में, जब प्रकृति का कोई भी उतार–चढ़ाव या रहस्य समझना संभव नहीं था, तो कल्पनाओं में अगर पारलौकिक धारणाओं का जन्म हुआ होगा, तो उसे एक हद तक मजबूरी मान कर टाल दिया जा सकता है। लेकिन आज न सिर्फ ज्यादातर प्राकृतिक रहस्यों को समझ लिया गया है, बल्कि किसी भी रहस्य या पारलौकिकता की खोज की जमीन भी बन चुकी है। यानी विज्ञान ने यह तय कर दिया है कि अगर कुछ रहस्य जैसा है, तो उसकी कोई वजह होगी, उस वजह की खोज संभव है। तो ऐसे दौर में किसी बीमारी के इलाज के लिए तंत्र–मंत्र, टोना–टोटका का सहारा लेना, बलि चढ़ाना, मनोकामना के पूरा होने के लिए किसी बाबा या धर्माधिकारी जैसे व्यक्ति की शरण में जाना एक अश्लील उपाय लगता है। बुखार चढ़ जाए और मरीज या उसके परिजनों के दिमाग में यह बैठ जाए कि यह किसी भूत या प्रेत का साया है, यह चेतना के स्तर पर बेहद पिछड़े होने का सबूत है, भक्ति या आस्था निबाहने में अव्वल होने का नहीं। इस तरह की धारणाओं के साथ जीता व्यक्ति अपनी इस मनःस्थिति के लिए जितना जिम्मेदार है, उससे ज्यादा समाज का वह ढांचा उसके भीतर यह मनोविज्ञान तैयार करता है। पैदा होने के बाद जन्म–पत्री बनवाने से लेकर किसी भी काम के लिए मुहूर्त निकलवाने के लिए धर्म के एजेंटों का मुंह ताकना किसी के भी भीतर पारलौकिकता के भय को मजबूत करता जाता है और उसके व्यक्तित्व को ज्यादा से ज्यादा खोखला करता है।

सवाल है कि समाज का यह मनोविज्ञान तैयार करना या इसका बने रहना किसके हित में है? किसी भी धर्म के सत्ताधारी तबकों की असली ताकत आम समाज का यही खोखलापन होता है। पारलौकिक भ्रम की गिरफ्त में ईश्वर और दूसरे अंधविश्वासों की दुनिया में भटकते हुए लोग आखिरकार बाबाओं–गुरुओं, तांत्रिकों, चमत्कारी फकीरों जैसे ठगों के फेर में पड़ते हैं और अपना बचा–खुचा विवेक गवां बैठते हैं। यह केवल समाज के आम और भोले–भाले लोगों की बंददिमागी नहीं है, बड़े–बड़े नेताओं, मुख्यमंत्रियों, प्रधानमंत्रियों और राष्ट्रपतियों तक को फर्जी और कथित चमत्कारी बाबाओं के चरणों में सिर नवाने में शर्म नहीं आती। यही नहीं, भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन के वैज्ञानिक तक अंतरिक्ष यानों के सफल प्रक्षेपण की प्रार्थना करते हुए पहले मंदिरों में पूजा करते दिख जाते हैं। यह बेवजह नहीं हैं कि कला या वाणिज्य विषय तो दूर, स्कूल–कॉलेजों से लेकर उच्च स्तर पर इंजीनिरिंग या चिकित्सा जैसे विज्ञान विषयों में शिक्षा हासिल करने के बावजूद कोई व्यक्ति पूजा–पाठ या अंधविश्वासों में लिथड़ा होता है।

ऐसे में अगर कोई अंतिम रूप से यह कहता है कि मैं ईश्वर और धर्म का विरोध नहीं करता हूं, मैं सिर्फ अंधविश्वासों के खिलाफ हूं तो वह एक अधूरी लड़ाई की बात करता है। धर्म और ईश्वर को अंधविश्वासों से बिल्कुल अलग करके देखना या तो मासूमियत है या फिर एक शातिर चाल। हां, अंध–आस्थाओं में डूबे समाज में ये अंधविश्वासों की समूची बुनियाद के खिलाफ व्यापक लड़ाई के शुरुआती कदम हो सकते हैं। इसे पहले रास्ते पर अपने साथ लाने की प्रक्रिया कह सकते हैं। लेकिन बलि, झाड़–फूंक, तंत्र–मंत्र, गंडा–ताबीज, बाबा–गुरु, तांत्रिक अनुष्ठान आदि के खिलाफ एक जमीन तैयार करने के बाद अगर रास्ता समूचे धर्म और ईश्वर की अवधारणा से मुक्ति की ओर नहीं जाता है तो वह अधूरे नतीजे ही देगा।

वैज्ञानिक चेतना से लैस कोई भी व्यक्ति यह समझता है कि दुनिया में मौजूद तमाम अंधविश्वास का सिरा पारलौकिक आस्थाओं से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। यह तो नहीं हो सकता कि कोई व्यक्ति बलि देने या बीमारी का इलाज कराने के लिए चमत्कारी बाबाओं का सहारा तो न ले, लेकिन ईश्वर या धर्म को अपनी जीवनचर्या का अनिवार्य हिस्सा माने। अगर वह सगुण–निर्गुण, साकार–निराकार किसी भी तरह के मत–संप्रदाय

का अनुगामी है तो उसका रास्ता आखिरकार एक पारलौकिक अमूर्त व्यवस्था की ओर जाता है, जहां वह खुद पर भरोसा करने के बजाय अपने अतीत, वर्तमान या भविष्य के लिए ईश्वर से की गई या की जाने वाली कामना को जिम्मेदार मानता है। इससे बड़ा प्रहसन क्या हो सकता है कि उत्तराखंड में बादल फटने या प्रलयंकारी बाढ़ के बावजूद अगर कुछ लोग बच गए तो उसके लिए ईश्वर को धन्यवाद दिया जाए और उसी वजह से कई–कई हजार लोग बेमौत मर गए, तो उसके लिए ईश्वर को जिम्मेदार नहीं माना जाए। बिहार के खगड़िया में कांवड़ लेकर भगवान को जल अर्पित करने जाते करीब चालीस लोग रेलगाड़ी से कट कर मर जाते हैं तो इसके लिए ईश्वर जिम्मेदार नहीं है और जो लोग बच गए, उन्हें ईश्वर ने बचा लिया...!!!

यह ईश्वरवाद किस सामाजिक व्यवस्था के तहत चलता है। अपनी अज्ञानता की सीमा में छटपटाते लोगों ने पारलौकिकता की रचना की, कुछ लोगों ने उसकी व्याख्या का ठेका उठा लिया, उनकी महंथगिरी ने एक तंत्र बुन दिया, वह धर्म हो गया। यह केवल हिन्दू या सनातन धर्म का नहीं, बल्कि सभी धर्मों का सच है। इसके बाद बाकी लोग सिर्फ पालक हैं, जिनके भोलेपन और प्रश्नविहीन होने के कारण ही यह धार्मिक–तंत्र चलता रहता है। ईश्वर–व्यवस्था के प्रति लोगों के भीतर कोई संदेह नहीं पैदा हो, इसके लिए तमाम इंतजाम किए जाते हैं। यह इंतजाम करने वाले वे लोग होते हैं, जो किसी भी धर्म–तंत्र के शीर्ष पर बैठे होते हैं। हालांकि यह ''इंतजाम'' का मनोविज्ञान अपने आप नीचे की ओर भी उतर जाता है और एक ''ईश्वरीय'' व्यवस्था या धर्म पर शक करने या उस पर सवाल उठाने वालों से निचले स्तर पर वे लोग भी ''निपट'' लेते हैं, जो खुद ही किसी धार्मिक–व्यवस्था के पीड़ित और भुक्तभोगी होते हैं।

ये ''मैजोकिज्म'' और ''सैडिज्म'' के मनोवैज्ञानिक चरणों के नतीजे हैं। ''मैजोकिज्म'' की अवस्था में कोई व्यक्ति अपने धर्मगुरु (इसे किसी धार्मिक व्यवस्था में जीवनचर्या को प्रभावित–संचालित करने वाले उपदेश भी कह सकते हैं) की किसी भी तरह की बात या व्यवहार पर कोई सवाल नहीं उठाता, भले कहीं कोई बात उसे गलत लगे। लेकिन वास्तव में यह गलत लगना उसके भीतर एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया को जन्म देता है, जिसे वह खुद भी नहीं समझ पाता, लेकिन अपने भीतर जज्ब कर लेता है। लेकिन यह प्रकृति का नियम है कि आप कुछ ग्रहण करेंगे तो उसका त्याग अनिवार्य है। इसलिए गुरु की किसी बात से मन में उपजी प्रतिक्रिया हर हाल में ''रिलीज'' होती है, यानी अपने निकलने का कोई न कोई रास्ता खोज लेती है। लेकिन तब इसका स्वरूप खाना सहज तरीके नहीं पचने के बाद उल्टियां होने की तरह बेहद विकृत हो सकता है। यानी यह ''सैडिज्म'' की अवस्था है। तो अपने धर्मगुरु की हर बात पचाने वाला व्यक्ति अपने घर में अपनी पत्नी या बच्चों के साथ बेहद बर्बर तरीके से पेश आ सकता है, किसी कमजोर व्यक्ति या कमजोर सामाजिक समूह के खिलाफ नफरत से भरा दिख सकता है, जोर–जोर की आवाज में बेहद वीभत्स गालियां बक सकता है या किसी वस्तु की बेमतलब तोड़फोड़ भी कर सकता है। इस तरह की कई मानसिक अवस्थाएं हो सकती हैं।

बहरहाल, नरेंद्र दाभोलकर, गोविंद पानसरे, गौरी लंकेश और एमएम कलबुर्गी आम जीवन में पसरे जिन अंधविश्वासों के खिलाफ मोर्चा ले रहे थे, उसका सिरा आखिरकार धर्म–तंत्र और फिर ईश्वर पर संदेहों की ओर जाता था। और जाहिर है, यह संदेह अंधविश्वासों और अंध–आस्थाओं पर टिके समूचे कारोबार और समाज के सत्ताधारी तबकों का साम्राज्य ध्वस्त कर सकता है। इसलिए इस तरह के संदेहों के भय से उपजी प्रतिक्रिया भी उतनी विकृत हो सकती है, जिसके शिकार नरेंद्र दाभोलकर हुए। यह हत्या दरअसल अंधविश्वासों की बुनियाद पर पलने वाले तमाम धर्मों और उनके धर्माधिकारियों के डर और कायरता का सबूत है। यह अंध–विश्वासों के सरमायेदारों के डर का प्रतीक है। अपनी दुकान के बंद हो जाने के डर से एक ऐसे शख्स की जान तक ले ली जा सकती है, जिसने अंधविश्वासों की बुनियाद पर पलने वाले धर्मों के खिलाफ इंसान की आंखें खोलने के आंदोलन में खुद को समर्पित कर दिया हो। यह केवल एक शख्स की हत्या नहीं है, यह तथाकथित धर्म के क्रूर मनोविज्ञान के खिलाफ एक विचार की हत्या की कोशिश है। इंसान के खुद पर भरोसे की और इंसानियत की एक नई और रौशन दुनिया के ख्वाब की हत्या की कोशिश है।

लेकिन क्या उनकी हत्या से अंधविश्वासों के खिलाफ उनके विचारों को खत्म किया जा सकेगा? जिन्हें भी लगता है कि अंधविश्वासों की बुनियाद पर पलने वाले धर्मों ने इस इंसानी समाज को बांटने, उसे कुंठित करने, नफरत फैलाने, सभ्यता को कुंद करने या एक तरह से मनुष्य विरोधी दुनिया बनाने में भूमिका निभाई है, उन सबको नरेंद्र दाभोलकर के नाम को अपनी ताकत बना कर आगे बढ़ना चाहिए। नरेंद्र दाभोलकर की हत्या के आरोप में जो लोग पकड़े गए हैं, उससे अंदाजा लगाया जा सकता है कि दाभोलकर से किसे दिक्कत थी।

अंधविश्वास की बुनियाद पर टिके सनातन धर्म से लेकर किसी भी धर्म को नरेंद्र दाभोलकर या गोविंद पानसरे या एमएम कलबुर्गी या गौरी लंकेश जैसे लोगों से दिक्कत होगी। लेकिन इन क्रांतिकारियों के हत्यारों और उसके अपराधी योजनाकारों को यह जानना चाहिए कि इन सबकी हत्या के बाद हजारों और ऐसे लोग पैदा हो चुके हैं।

❐

हिन्दू रिपब्लिक बनाम डेमोक्रेटिक रिपब्लिक

महेन्द्र सुमन

आरएसएस–भाजपा हिन्दू धर्म की सबसे प्रतिगामी और पुरातनपंथी धारा का प्रतिनिधित्व करती है। वह एक राम, एक अयोध्या, एक गीता और एक टोटम– गाय के जरिए हिन्दू समाज का रेजिमेंटेशन करना चाह रही है। यह रेजिमेंटेशन हिन्दू धर्म की विविधता और उदारवादी परम्परा को खत्म कर उसे कट्टर और आक्रामक बना देगा। उनकी वैचारिकी में राम के अनेकों (300) पाठ की जगह सिर्फ एक पाठ की अनुमति है। 'गऊ माता' के लिए तो उनके यहां भक्ति छलकती है, मगर महिषी (भैसों) के लिए कोई दर्द नहीं।

हिन्दू धर्म की ताकत है उसकी विकेंद्रीयता, उसकी कोई आधिकारिक सत्ता (धर्माधीश) नहीं रही है। करीब 700 सालों तक मुस्लिम शासन के अधीन रहने और उसके 300 साल बाद जिसमें 200 सालों का इसाई ब्रिटिश काल भी शामिल है, आज भारत में मुस्लिम और इसाई क्रमशः 14 और 2.3 फीसदी ही हैं जबकि पूरे मध्य एशिया और अफ्रीका के कुछ हिस्सों में 80 फीसदी से भी अधिक आबादी का धर्मांतरण हुआ। यह हिन्दू धर्म की विकेंद्रीयता और विविधता ही है जिसके कारण वह आबाद है। यहां यह उल्लेख करना जरूरी है कि आरएसएस–भाजपा के प्रयास हिन्दू धर्म की ठीक इसी अंतर्निहित ताकत को कमजोर कर रहे हैं। इसके अलावा, हिन्दू धर्म के रेजिमेंटेशन का मतलब है ब्राह्मणवादी ताकतों का शीर्ष पर बैठना।

आरएसएस–भाजपा को छोड़कर भारत की तमाम वैचारिक–राजनीतिक धाराएं जिनमें माओवाद भी शामिल हैं, देश के सेक्यूलर पीपुल्स रिपब्लिक चरित्र की हिमायती हैं। हिन्दुत्व के आक्रामक अभियानों के बीच जब नरेन्द्र मोदी भारत के 70 सालों के इतिहास को एकदम से खारिज करते हैं तो वास्तव में उनका आशय क्या है ? इमरजेंसी के 18 माह के संक्षिप्त विचलन को छोड़ दें तो एक डेमोक्रेटिक रिपब्लिक के रूप में भारत अक्षुण्ण रहा है। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद दुनिया के इतिहास पर नजर डालें तो इतनी विविधतावाले हमारे देश की यह शानदार उपलब्धि है। इन 70 सालों को खारिज करने का मतलब है एक राष्ट्र के बतौर हमारी साझा विरासत को खारिज करना।

यहां याद करें कि हिटलर भी एक मामूली सिपाही था। वह काफी पॉपुलर सपोर्ट से जर्मनी के तख्त पर बैठा था और उसने खुद अपनी बहुमतवाली संसद में आग लगा दी थी। आज अगर भारत का डेमोक्रेटिक–सेक्यूलर मन ऐसी आशंकाओं से भयभीत है तो उसकी ठोस वजह है। डेमोक्रेसी के बारे में भाजपा के मातृ संगठन आरएसएस के क्या मत हैं? इस मामले में उनके विचारक हेडेगवार और गोलवलकर के विचार से सभी परिचित हैं। नरेन्द्र मोदी ने कभी यह नही छुपाया कि वह पक्के हिन्दू राष्ट्रवादी हैं। और महंत आदित्य नाथ योगी तो राजतंत्र के समर्थक हैं। उल्लेखनीय है कि पृथ्वीनारायण शाह के जमाने से ही गोरखनाथ नेपाली हिन्दू राजाओं के कुल देवता रहे हैं। अभी नेपाल में चल रहे उथल–पुथल के बीच पूर्व राजा ज्ञानेन्द्र के नेतृत्व में हिन्दू किंगडम की पुनर्स्थापना की कोशिशों को हमारे 'न्यू इंडिया' के नए सिपहसालार आदित्यनाथ योगी का पूरा समर्थन प्राप्त है।

लेखक सबाल्टर्न के संपादक मंडल से जुड़े हैं।

चुनावों के 'द फर्स्ट पास्ट द पोस्ट सिस्टम' में कोई जीत बहुत भारी दीखती है तो कोई हार बहुत बड़ी। मिसाल के लिए वोट प्रतिशत के मामले में यूपी में भाजपा की जीत दुगुनी ज्यादा तो अखिलेश की हार दुगुनी और मायावती की चारगुनी से भी ज्यादा। भारतीय चुनाव इतिहास में केन्द्र या राज्य में कभी किसी दल या गठबंधन को शायद ही 50 प्रतिशत से ज्यादा मत मिला है। यदि यह चुनाव ब्रिटिश चुनाव पद्धति 'द फर्स्ट पास्ट द पोस्ट सिस्टम' के बजाय जर्मनी के प्रोपोशनल रिप्रेजेंटेशन के आधार होते तो यह खंडित जनादेश ही होता।

''हिन्दुत्व के खिलाफ सबसे बड़ा हथियार है सामाजिक न्याय की अवधारणा। हिन्दुत्व हिन्दुओं की एकीकृत पहचान पर जोर देता है ताकि हिन्दुओं के बीच द्विज और गैर– द्विज के विभाजन को ढंका जा सके। जबकि सामाजिक न्याय हिन्दुओं की खंडित पहचान, द्विज और गैर– द्विज, ब्राह्मण और गैर–ब्राह्मण के विभाजन पर जोर देता है। यह विभाजन हिन्दू के नाम पर गोलबंदी में सबसे बड़ी बाधा है। भारत का भगवाकरण 1990 के दशक में ही हो जाता अगर सामाजिक न्याय की ताकतों ने उन्हें शिकस्त नहीं दी होती।''

तीन चौथाई बहुमत इतिहास में विरले ही मिलता है और इतिहास गवाह है कि प्रचंड जनादेश तुरंत पराभव का भी निमित बन जा सकता है। यह करीब–करीब दिवाल पर लिखी इबारत की तरह है कि भाजपा का 'रोमियो स्कावएड'/'हिन्दू युवा वाहिनी अपने 'सोशल रिपब्लिक' को नही संभाल पाएंगे। डर सिर्फ इस बात का है कि यह यूपी को अपने 'हिन्दू रिपब्लिक' की प्रयोगस्थली बनाने में कामयाब न हो जाए। बहरहाल, बहुजनों की जीत इस बात पर निर्भर करती है कि हिन्दू रिपब्लिक के खिलाफ वे अपने सोशल रिपब्लिक को वैचारिक–राजनीतिक आधार पर कितना सुदृढ़ कर पाते हैं।

आज अपनी जमीन को पुनः प्राप्त करने का फौरी तकाजा है– वैचारिक, राजनीतिक और सांगठनिक सभी मोर्चों पर रैडिकल पुनर्संयोजन। अगर न्यायपसंद व डेमोक्रेटिक ताकतें आज एकताबद्ध नहीं होती हैं तो हो सकता है अगले 100 सालों तक पुरानी स्थिति बहाल करने के लिए उन्हें जद्दोजहद करनी पड़े। इस रैडिकल पुनर्संयोजन को मोटे तौर पर इस प्रकार रखा जा सकता है:

- हिन्दुत्व के खिलाफ सबसे बड़ा हथियार है सामाजिक न्याय की अवधारणा। हिन्दुत्व हिन्दुओं की एकीकृत पहचान पर जोर देता है ताकि हिन्दुओं के बीच द्विज और गैर– द्विज के विभाजन को ढंका जा सके। जबकि सामाजिक न्याय हिन्दुओं की खंडित पहचान, द्विज और गैर– द्विज, ब्राह्मण और गैर–ब्राह्मण के विभाजन पर जोर देता है। यह विभाजन हिन्दू के नाम पर गोलबंदी में सबसे बड़ी बाधा है। भारत का भगवाकरण 1990 के दशक में ही हो जाता अगर सामाजिक न्याय की ताकतों ने उन्हें शिकस्त नहीं दी होती।
- सामाजिक न्याय के पुराने अनफिनिश्ड एजेंडे के साथ–साथ इक्कीसवीं सदी में सामाजिक न्याय के नए एजेंडे पर जोर देना। सामाजिक न्याय का एक दौर पूरा हो चुका है जब बहुजनों ने मोटे तौर पर सत्ता एवं सम्मान हासिल कर लिया है। अब एक नया दौर शुरू हो चुका है जिसमें ज्ञान और धन का न्यायपूर्ण बंटवारा केंद्रीय प्रश्न बन गया है। कुछ मुद्दे प्रमुखता से उभरकर आ रहे हैं जैसे आरक्षण की सीमा बढ़ाकर 69 प्रतिशत करना; निजी क्षेत्र में आरक्षण का प्रावधान लागू करना; वंचित समुदायों, खासकर महिलाओं, दलितों और आदिवासियों पर हिंसक हमलों तथा जनसंहारों के मामलों का त्वरित निष्पादन और कठोर दंड की व्यवस्था; प्रमोशन में आरक्षण का प्रावधान; वंचित समुदायों के लिए गठित आयोगों को और अधिक अधिकार–सम्पन्न करना, आर्थिक क्रियाकलापों में उनकी भागीदारी सुनिश्चित करना और इसके लिए गठित निगमों की आवंटित राशि में पर्याप्त वृद्धि करना; पृथक शिक्षण तथा प्रशिक्षण संस्थाओं का गठन करना तथा उच्च शिक्षा–संस्थानों में इन छात्रों के शोध–अनुसंधान को वित्तीय और अधिसंरचनात्मक सुविधाएं प्रदान करना; इन समुदाय के नायकों, उनके इतिहास तथा उनके सामाजिक आंदोलनों को पाठ्य–पुस्तकों और सामाजिक जीवन में पर्याप्त स्थान देना आदि। न्यायपालिका, मीडिया, विज्ञान–तकनीक, कला–संस्कृति, उद्यम–व्यवसाय के क्षेत्र में इन वंचित समुदायों की उपस्थिति अत्यंत सीमित है, इसीलिए आगे के दौर में इन महत्वपूर्ण क्षेत्रों में इन समुदायों की समुचित भागीदारी सुनिश्चित करना सामाजिक न्याय के समक्ष भारी चुनौती है।
- भाजपा–आरएसएस की सांगठनिक क्षमता उनकी बड़ी ताकत है। कम्युनिस्ट पार्टियों जैसा कैडर फोर्स और बुर्जुआ पार्टियों जैसा सुपर स्ट्रक्चर– उन्हें करीब–करीब अनमैच्ड बना देता है। लिहाजा हमारे पास विकल्प सिर्फ साझा मुकाबला करने का ही बचता है। बृहत एकता के लिए यह आवश्यक है कि बहुजनों के आम राजनीतिक एजेंडों के साथ–साथ हम विभिन्न सामाजिक समूहों के स्वायत्त चरित्र का सम्मान करें और उनकी विशिष्ट मांगों को समायोजित करें।

सामाजिक न्याय के कुछ पहरूए के पथभ्रष्ट होने का मतलब यह नहीं है कि एक वैचारिक राजनीतिक अवधारणा के तौर पर यह अप्रासंगिक हो गया। अस्मितावादी राजनीति की मौत की घोषणा करनेवालों को जश्न मनाने दीजिए। मैदान में देखिए न तो कोई वर्गवादी हैं और न ही मध्यमार्गवादी, ये 'जातिवादी' ही हैं जो मुकाबले में खड़े होने का माद्दा रखते हैं।

(''भारत का भगवाकरण और सामाजिक न्याय की चुनौतियां'' विषय पर 11 जून 2017 को पटना में आयोजित संगोष्ठी के अवसर पर सबाल्टर्न के मातृ संगठन बागडोर द्वारा जारी आधार पत्र)

शराबबंदी के सम्मोहक पाश में बिहार

मनीष शांडिल्य

बिहार में शराबबंदी कानून के तहत जिन्हें सबसे पहले सजा सुनाई गई वे जहानाबाद जिले में सूबे के सबसे कमजोर तबके मुसहर समाज से आने वाले दो गरीब थे। बीते साल मई के अंत में मस्तान मांझी और पेंटर मांझी को कथित रूप से नशे की हालत में गिरफ्तार किया गया था। गिरफ्तारी से डेढ़ महीने से भी कम समय में 10 जुलाई 2017 को दैनिक मजदूरी करने वाले इन दोनों भाइयों को मद्यनिषेध अधिनियम के तहत दोषी ठहरा दिया गया, जिसके तहत पांच साल की सख्त कारावास की सजा सुनाई गई और एक लाख रुपये का जुर्माना लगाया गया। गरीब मुसहरों–मस्तान मांझी व पेंटर मांझी को सजा होना पूरी आपराधिक न्याय प्रणाली सहित शराबंबदी के गरीब–विरोधी चरित्र को उजागर करता है।

दूसरी ओर, बिहार के मुख्यमंत्री नीतीश कुमार इसे गरीब पक्षी बताने पर तुले हैं। बिहार में पूर्ण शराबबंदी के लिए लागू कानून के संशोधन संबंधी विधेयक, बिहार मद्यनिषेध और उत्पाद (संशोधन) विधेयक 2018, पर चर्चा के दौरान 23 जुलाई को उन्होंने बिहार विधानसभा में अपने भाषण के दौरान कई बार, कई तरीके से इस बात को रखा कि करीब ढाई साल पहले बिहार में जो शराबबंदी लागू की गई थी वह गरीब लोगों के लिए, हाशिये पर रहने वाले लोगों की भलाई के लिए लागू की गई थी और इसका सबसे ज्यादा फायदा भी इसी तबके को हुआ है। ''समाज के हाशिए पर के लोग शराब से सबसे ज्यादा प्रभावित थे। अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अति पिछड़े वर्ग के लोग सबसे अधिक प्रभावित थे। उनकी रक्षा के लिए हमलोग काम कर रहे हैं।''

शराबंबदी लागू होने के करीब ढाई बर्षों बाद इसकी सबसे बड़ी आलोचना सामने आ रही है कि गरीबों के नाम पर लिया गया यह फैसला दरअसल गरीब–विरोधी साबित हो रहा है। विपक्ष लगातार इस बात को सामने रख रहा है। गौरतलब है कि पूर्व मुख्यमंत्री जीतन राम मांझी ने इस साल फरवरी के अंत में सत्तारुढ़ गठबंधन से अलग होते हुए शराबबंदी के तहत हुई गिरफ्तारियों को अपने इस फैसले की एक बड़ी वजह बताया था। तब उन्होंने यहां तक कहा था कि इस कानून के तहत गिरफ्तार डेढ़ लाख लोगों में से 99 फीसदी लोग गरीब परिवारों से हैं। मीडिया रिपोर्ट्स ऐसे आरोपों की तसदीक कर रही हैं। नीतीश कुमार ने भी 23 जुलाई को सदन में यह माना था कि इस कानून का दुरुपयोग हो रहा है। उन्होंने कहा, ''लोगों की प्रवृत्ति होती है कि अगर अधिकार मिलता है तो हम उसका दुरुपयोग करें। इसका इस्तेमाल धन कमाने में करते हैं। ऐसी स्थिति में सरकारी तंत्र में भी ऐसे लोग हो सकते हैं। और ऐसे लोग भी हो सकते हैं जो लोगों को परेशान करें।''

लेखक बीबीसी हिंदी से संबद्ध हैं। साथ ही स्वतंत्र लेखन एवं अनुवाद।

निशाने पर बहुजन

हालांकि 23 जुलाई को नीतीश कुमार ने सदन में कुछ आंकड़े रखे लेकिन यह नहीं बताया कि अब तक इस कानून से कौन सा तबका क्यों और कितना परेशान होता रहा है। जबकि मई महीने के अंत में अंग्रेजी अखबार इंडियन एक्सप्रेस ने सरकारी आंकड़ों के हवाले से ही अपनी एक रिपोर्ट में यह बताया था कि शराबबंदी कानून से गरीब और वंचित वर्ग ही सबसे ज्यादा परेशान हो रहे हैं। अखबार ने टिप्पणी की कि गरीबों पर पुलिस कार्रवाई का खतरा ज्यादा होता है और उनके पास जमानत लेने की क्षमता भी नहीं होती है, जो कि शराबबंदी के तहत गिरफ्तार हुए लोगों में गरीबों की असमान संख्या में दिखाई भी देता है।

अखबार ने पटना, गया और मोतिहारी प्रक्षेत्र में आनेवाले तीन केंद्रीय जेलों, 10 जिला जेलों और नौ उप जेलों के आंकड़ों का विश्लेषण किया। सूबे में कुल आठ जेल प्रक्षेत्र हैं और इन तीन प्रक्षेत्रों में ही शराबबंदी के दो वर्षों, अप्रैल, 2016 से मार्च, 2018 के बीच हुई करीब 1.22 लाख गिरफ्तारियों में से लगभग 67 प्रतिशत गिरफ्तारियां हुई थीं।

अखबार की रिपोर्ट बताती है, ''जेल अधिकारियों द्वारा जो आंकड़े संकलित किए गए हैं वे बताते हैं कि राज्य के जिस सबसे कमजोर और हाशिए पर पड़े वर्ग (एससी, एसटी, ओबीसी और ईबीसी) के लाभान्वित होने की बात मुख्यमंत्री करते हैं, वही वर्ग शराबबंदी संबंधी कानूनी कार्रवाई की तपिश भी झेल रहा है।''

रिपोर्ट के आंकड़ों के मुताबिक सूबे में अनुसूचित जाति यानी एससी की आबादी 16 फीसदी है, जबकि शराबबंदी कानून के तहत हुई कुल गिरफ्तारियों में 27.1 फीसदी लोग एससी के ही हैं। अनुसूचित जनजाति यानी एसटी की गिरफ्तारी के आंकड़े तो चौंकाने वाले हैं जिनकी आबादी बिहार में मात्र 1.3 फीसदी है। गिरफ्तारी में एसटी का प्रतिशत अपनी आबादी का करीब पांच गुणा यानी 6.8 फीसदी है। बिहार के हर चार नागरिकों में से एक ओबीसी (करीब 25 फीसदी आबादी) है, लेकिन शराबबंदी के तहत जेल में बंद हर तीसरा व्यक्ति (गिरफ्तारी का 34.4 फीसदी) इस वर्ग से आता है। ईबीसी की आबादी सूबे में 26 फीसदी के आसपास है और गिरफ्तारी 19.2 फीसदी है। नीचे चार्ट देखें:
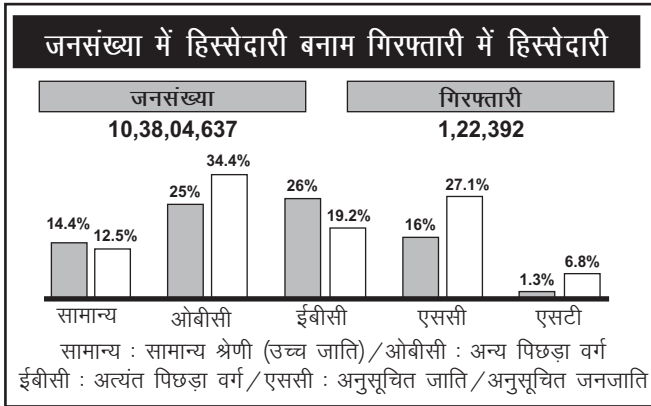
यह रिपोर्ट सामाजिक कार्यकर्ताओं और गिरफ्तार लोगों के हवाले से यह बात भी कहती है कि सरकार बड़े संगठित माफियाओं पर कार्रवाई नहीं कर रही है। साथ ही इस रिपोर्ट में सर्वेक्षण के निष्कर्षों पर अपनी राय रखते हुए बिहार के पुलिस महानिदेशक के.एस. द्विवेदी ने पुलिस तंत्र के काम करने की एक कड़वी सच्चाई को स्वीकार भी किया। उन्होंने कहा, ''मुझे इन आंकड़ों का कोई ज्ञान नहीं है, जेल विभाग को शायद इनके बारे में पता हो। लेकिन मैं कह सकता हूं कि इन गिरफ्तारियों में समृद्ध और ऊंची जातियों की हमेशा कम संख्या होगी क्योंकि पुलिस को अक्सर बस्तियों और झुग्गी झोपड़ियों में छापा मारना सुविधाजनक लगता है।''

क्या कहते हैं बिहार सरकार के आंकडें

शराबबंदी के प्रभाव के मूल्यांकन के लिए बिहार सरकार द्वारा विकास प्रबंधन संस्थान (डीएमआई) और पटना स्थित एशियाई विकास अनुसंधान संस्थान (आद्री) से अध्ययन करवाया गया। आद्री ने शराबबंदी के छह महीने बाद ही अध्ययन किया था। इसमें साल 2016 के अप्रैल से सितंबर के बीच के आंकड़ों की इसी अवधि के साल 2015 के आंकड़ों से तुलना की गई। चलिए, यह देखते हैं कि शराबबंदी के प्रभाव संबंधी इन अध्ययनों के क्या निष्कर्ष हैं:

1. बिहार में 44 लाख पियक्कड़ थे जो प्रति माह शराब पर 1000 रु. खर्च करते थे। इस आधार पर शराबबंदी के बाद प्रति माह 440 रु. करोड़ के हिसाब से सालाना 5280 करोड़ रु. की बचत हुई है।
2. अलग–अलग अपराधों में 10 से 66 प्रतिशत तक की कमी आई है। यद्यपि महिलाओं के विरुद्ध अपराधों में यह कमी सिर्फ 2.3 प्रतिशत है।
3. दुग्ध उत्पादों समेत अन्य खाद्य उत्पादों की बिक्री में उछाल आया है। इसके अलावा, घरेलू उपभोक्ता सामग्रियों की खरीद, मनोरंजन खर्च आदि की वृद्धि में भी इसके प्रभाव को देखा जा सकता है।
4. महिलाओं के खिलाफ घरेलू हिंसा, मारपीट, गाली–गलौज और मानसिक प्रताड़ना में उल्लेखनीय कमी आई है।
5. पहले एक परिवार हफ्ता में अपने भोजन पर 1005 रु. खर्च करता था जो अब बढ़कर 1331 रु. हो गया है। 19 प्रतिशत परवारों ने परिसंपत्ति अर्जित की है।
6. सर्वोपरि, समाज में महिलाओं की हैसियत और जिम्मेवारी में इजाफा हुआ है।

(सभी आकड़ें 'इकोनामिक सर्वे', 2017–18, बिहार सरकार से उद्धृत)

सवाल है कि शराबबंदी के नकारात्मक प्रभावों (इस पर शायद कोई अकादमिक अध्ययन अभी तक नहीं आया है) के बरक्श इन सकारात्मक प्रभावों को कैसे देखा जाए? क्या ये प्रभाव वाकई हैं और शराबबंदी से जुड़े हैं? सर्वप्रथम, ये आंकड़े बहुत छोटी अवधि के लिए गए हैं और इसमें यह मानकर चला गया है शराब की आपूर्ति बिल्कुल खत्म कर दी गई है। दूसरे, जीवन स्तर और शैली में जो भी थोड़े बहुत बदलाव आए हैं उन्हें सीधे शराबबंदी से जोड़ दिया गया है, अन्य आर्थिक–सामाजिक कारकों पर विचार तक नहीं किया गया है। इसके अलावा, कोई निष्पक्ष सरकारी या गैर सरकारी राष्ट्रीय या अन्तराष्ट्रीय एजेंसी के अध्ययन नहीं आए हैं जो बिहार सरकार के इन दावों की पुष्टि करते हों। जो भी हो, फिलवक्त, हमारे राज्य के मुखिया और उनके चीयरलीडर्स शराबबंदी के नशा में इतना चूर हैं कि इस नजरिए से शराबबंदी पर कोई चर्चा मुनासिब नहीं समझते।

नोटबंदी जैसा ही फिसड्डी है शराबबंदी का दावा

8 नवंबर, 2016 को नोटबंदी की घोषणा करते हुए नरेंद्र मोदी ने नोटबंदी से होने वाले फायदों को गिनाते हुए यह यह

अमेरिका में शराबबंदी

करीब दो करोड़ अमरीकी ऐसे स्थानों पर रहते हैं जहां शराब की बिक्री अवैध है।

आज 5 जून को अमेरिका में नेशनल मूनशाइन दिवस है, जब यहां के पियक्कड़ शराबबंदी से निपटने के लिए घर में निर्मित अवैध दारू मूनशाइन से भरे मटके उठाते हैं। अधिकांश पीने वालों के लिए, शराब की तस्करी और शराबखोरी के छिपे अड्डे अब इतिहास का हिस्सा बन चुके हैं। लेकिन अभी भी लगभग 1.8 करोड़ अमरीकी ''शराबबंदी'' वाले काउंटी या नगरपालिकाओं में रहते हैं, जहां शराब की बिक्री कानूनन अवैध है। ये इलाके आधुनिक समय में कैसे अस्तित्व में हैं और वहां के वाशिंदे इसकी क्या कीमत चुका रहे हैं?

संयुक्त राज्य अमेरिका में शराबबंदी के पहले से ही इसके कुछ हिस्सों में शराब पर प्रतिबन्ध था। माइन राज्य ने 1840 के दशक के आरंभ में अपने खुद के शराब–निरोधी नियमों को लागू किया था। 1919 में, 18वें संशोधन ने इन प्रतिबंधों को राष्ट्रव्यापी बना दिया। तब कई अमेरिकियों ने प्रतिबंध पर नाराजगी जताई और डॉक्टरों के लिखे नुस्खे पर कानूनी व्हिस्की प्राप्त करके इसे धता बताया जबकि बाकी लोग इस पर खुश हुए। कुछ प्रोटेस्टेंट ने शराबखोरी को पाप माना, जबकि अन्य अमेरिकियों ने आप्रवासियों और गरीबों के पियक्कड़ बन जाने के सामाजिक खतरे को लेकर चिंता जाहिर की। यह नजरिया 1933 के बाद भी बना रहा, जिस साल राष्ट्रपति फ्रैंकलिन डी रूजवेल्ट ने शराबबंदी वापस ले ली थी। फिर भी, कई राज्यों ने अपने यहां शराबबंदी जारी रखी। मिसिसिपी में 1960 के दशक में जाकर फिर से शराबखाने खुले। साल 2006 तक, दक्षिण कैरोलिना के वाशिंदे स्थानीय शराबखाने जाकर छोटी बोतलों से केवल उतनी ही शराब खरीद सकते थे जितनी उन्हें हवाई यात्रा के दौरान पीने को मिलती थी।.

अब शराब पर देशव्यापी प्रतिबंध खत्म हो गए हैं। लेकिन देश के लगभग 10 फीसद भौगोलिक क्षेत्र, खासकर दक्षिण में, स्थानीय प्रतिबंध लागू हैं। पिछले साल के अंत तक, टेक्सास के छह और अरकंसास के पैंतीस काउंटीज में अभी भी शराबबंदी लागू थी। अलास्का के कुछ हिस्सों में नियम इतने सख्त हैं कि शराब रखना भी अवैध है। यहां तक कि जिन काउंटीज में कथित रूप से शराबबंदी नहीं है वहां भी केवल कुछ क्षेत्रों में ही शराब पीने की अनुमति है या वहां अन्य तरीकों से इसे सीमित किया जाता है (जैसे कि शराब की बिक्री को केवल बड़े रेस्तरां तक प्रतिबंधित करना)। हालांकि अभियान चलानेवाले नियमों में ढील दिलाने की कोशिश करते हैं मगर बदलाव धीमा हो सकता है। अलबामिया के लोगों ने 2016 में अपना आखिरी पूर्ण मद्य निषेध क्षेत्र समाप्त करने के लिए मतदान किया। यह आंशिक रूप से सामाजिक है। 1919 की तुलना में अमरीकी अधिक उदार हो सकते हैं, लेकिन सतर्क नजरिया बना हुआ है। शराबबंदी के एक आधुनिक पैरोकार बताते हैं कि कुछ क्षेत्रों में मद्यपान से परहेज की संस्कृति का स्थायी प्रभाव पड़ा है।

कानूनी बाधाओं से शायद ही मदद मिलती है। अरकंसास के किसी भी अधिकार क्षेत्र में 38 फीसदी मतदाताओं द्वारा याचिका पर हस्ताक्षर करने से शराबबंदी निरस्त हो सकती है, जबकि अन्य मुद्दों के लिए केवल 15 फीसदी मतदाताओं के हस्ताक्षर से जनमत संग्रह की अर्हता पूरी हो जाती है। कुछ शराब पीने वाले शराबबंदी को निरस्त करने के प्रयासों को खुद नुकसान पहुंचाते हैं। अलास्का के शराबबंदी वाले इलाकों में शराब तस्करों, जो अपना धंधा चौपट होने का खतरे से चिंतित थे, ने शराब के उपयोग को कानूनी रूप देने के प्रस्ताव के खिलाफ मतदान करने को राजी करने के लिए मतदाताओं को मुफ्त शराब में डुबो दिया।

यह खतरनाक रणनीति चकित करनेवाली नहीं है। शराबबंदी अभी भी अनैतिक कारोबारियों को अमीर बनने के मौके देती है। नेब्रास्का से लगे दक्षिण डकोटा की सीमा के पास पाइन रिज इंडियन रिजर्वेशन में शराब तस्कर बीयर तीन डॉलर और वोदका (हैण्ड सैनिटाइजर मिश्रित) दस डॉलर प्रति बोतल की दर से बेचते हैं। शराबबंदी अन्य तरीकों से भी खतरनाक हो सकती है। चूंकि शराबबंदी वाले क्षेत्रों में लोगों की यात्राओं पर पहरेदारी अधिक होती है, नशे के चलते होने वाली दुर्घटनाएं कहीं अधिक आम हैं। घर पर रहना पसंद करने वालों के लिए, ड्रग का शिकार होने का खतरा बढ़ सकता है। लुइसविले विश्वविद्यालय के शोधकर्ताओं ने पाया कि केंटकी के शराबबंदी वाले काउंटीज में गैरकानूनी मेथ लैब्स (ड्रग बनाने वाले वाहन) की मौजूदगी की संभावना उन पड़ोसी इलाकों से दोगुनी थी जहां शराबबंदी नहीं है। कोई आश्चर्य नहीं कि कान्सास से लेकर मैरीलैंड तक के सट्टेबाजों ने हाल के वर्षों में शराबबंदी में ढील देने के लिए मतदान किया है। ऐसा केवल इस कारण से किया गया क्योंकि शराब का धंधा वित्तीय रूप से फायदेमंद है। 2014 में एक अध्ययन में पाया गया कि तीन अरकंसास काउंटी से शराबबंदी हटा देने से स्थानीय अर्थव्यवस्था में सालाना 30 मिलियन डॉलर से अधिक की राशि आएगी जो कि शराबबंदी खत्म करने का एक अच्छा कारण है।

–'द इकोनॉमिस्ट', 5 जून 2018 से साभार

कहा था कि इसका एक बड़ा फायदा यह होगा कि इस कवायद से काले धन पर अंकुश लग जाएगा। अब रिजर्व बैंक ने नोटबंदी के दौरान बैंकिंग सिस्टम में वापस लौटे नोटों के बारे में पूरी जानकारी सामने रख दी है। इसके मुताबिक पांच सौ और हजार के 99.3 फीसदी नोट बैंकों में लौट आए हैं। मतलब जितना नकदी नोटबंदी के पहले प्रचलन में थी सारी की सारी बैंकों में लौट गई। इसका एक मतलब यह कि सरकार नकदी के रूप में पड़े जिस काले धन को खत्म करने का दावा कर रही थी वैसा कुछ भी नहीं हुआ। बिहार में लागू पूर्ण शराबबंदी का भी हाल कुछ–कुछ ऐसा ही है। इस सन्दर्भ में अंग्रेजी अखबार हिंदुस्तान टाइम्स ने 19 जुलाई को प्रकाशित अपनी एक रिपोर्ट में दावा किया है कि शराबबंदी के बाद भी बिहार में शराब की पहले जितनी ही खपत हो रही है।

अखबार बीते कुछ वर्षों के दौरान बिहार और पश्चिम बंगाल, झारखंड और उत्तर प्रदेश जैसे पड़ोसी राज्यों में शराब से होने वाले उत्पाद राजस्व संकलन के तुलनात्मक अध्ययन से यह दावा करता है। बिहार में लागू पूर्ण शराबबंदी ने राज्य सरकार के राजस्व संग्रह को बड़ा नुकसान पहुंचाया है। 2015–16 यानी कि शराबबंदी लागू होने से ठीक पहले के वित्तीय वर्ष में बिहार ने शराब पर लगाए जाने वाले राज्य उत्पाद शुल्क से 3141.7 करोड़ रु. का राजस्व अर्जित किया था।

अखबार के मुताबिक बिहार में शराबबंदी की घोषणा से पहले के पांच साल यानी 2011–12 से 2015–16 के दौरान इन चार राज्यों (बिहार, पश्चिम बंगाल, झारखंड और उत्तर प्रदेश) के कुल राज्य उत्पाद राजस्व में बिहार के राज्य उत्पाद राजस्व की हिस्सेदारी 15.6 प्रतिशत थी। चूंकि शराबबंदी के बाद बिहार के उत्पाद शुल्क का राजस्व शून्य रह गया इसलिए इन चार राज्यों का कुल उत्पाद राजस्व 2015–17 में अब्सल्युट टर्म में गिर गया। हालांकि, अगले दो वर्षों में बहुत तेजी से यह नकारात्मक बदलाव उलट गया और इन राज्यों के उत्पाद राजस्व संकलन में जबरदस्त तेजी देखी गई। (चार्ट देखें)।

क्या बिहार में अवैध शराब की तस्करी हो रही है ?

बिहार में शराबंदी के बाद पड़ोसी राज्यों के आबकारी राजस्व में उछाल
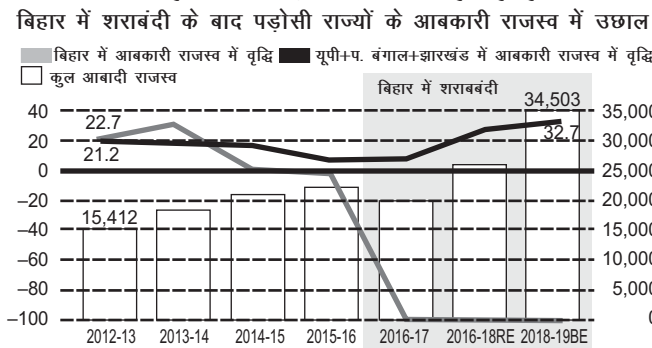
अखबार कहता है कि जिन दो वित्तीय वर्षों के दौरान बिहार में उत्पाद राजस्व शून्य रहा है उस बीच इन तीन पड़ोसी राज्यों में इस राजस्व में तेज वृद्धि दर्ज हुई है। दरअसल 2017–18 और 2018–19 में इन तीन राज्यों के राज्य उत्पाद राजस्व में वार्षिक वृद्धि 2001–02 के बाद से सबसे ज्यादा रही है। हालांकि, 2017–18 और 2018–19 के इन तीन पड़ोसी राज्यों के ये आंकड़े संशोधित अनुमान और बजट अनुमान हैं और इनमें परिवर्तन संभव हैं। लेकिन यदि इन राज्यों के उत्पाद राजस्व में असमान वृद्धि की यही प्रवृत्तियां कायम रहीं, तो इसके केवल दो ही निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं– पहला यह कि 2016–17 के बाद बिहार के पड़ोसी राज्यों में शराब की खपत में असमान वृद्धि हुई है या दूसरा, इन राज्यों से बिहार में शराब की भारी तस्करी हो रही है। कहने की जरूरत नहीं कि तमाम तथ्य दूसरे निष्कर्ष की पुष्टि करते हैं। अखबार भी इस नतीजे पर पहुंचता है कि बिहार में अवैध रूप से शराब बेचे जाने की रिपोर्ट्स के अचूक सबूत बताते हैं कि बिहार में पड़ोसी राज्यों से शराब की धड़ल्ले से तस्करी हो रही है।

हिंदुस्तान टाइम्स की रिपोर्ट में पंजाब, हरियाणा और पड़ोसी देश नेपाल से आ रही शराब की खेप का जिक्र नहीं है जबकि यह तथ्य है कि इन तीनों जगहों से शराब की बड़ी खेप अक्सर बिहार पहुंचती रहती है। तो अगर शराब की भारी तस्करी की यह बात सच है, तो इसका मतलब यह भी होगा कि शराबबंदी से केवल बिहार को राजस्व की हानि हुई है, यह राजस्व पड़ोसी राज्यों में जा रहा है और सबसे बड़ी बात कि सूबे में शराब की खपत बदस्तूर जारी है।

राज्य सरकार इस तर्क के साथ शराबबंदी के फैसले को सही ठहराने की कोशिश करती रहती है कि इस बड़े राजस्व हानि के कारण होने वाला सामाजिक फायदा कहीं बड़ा है। जैसाकि सरकार द्वारा प्रायोजित ऊपर वर्णित अध्ययन में बताया गया, शराब की खपत पर खर्च होने वाले पैसे को लोग अब खान–पान, इलाज, रहन–सहन जैसे जीवन को बेहतर बनाने वाले अन्य उद्देश्यों पर खर्च कर रहे हैं।

लेकिन हिंदुस्तान टाइम्स की रिपोर्ट बताती है कि जब शराब की खपत ही नहीं घटी तो शराबबंदी के बाद केवल राजस्व का नुकसान ही हुआ है। ऐसे में यह रिपोर्ट प्रकारांतर से जीवन स्तर सुधारने वाले खर्च के दावों पर भी सवाल खड़े करती है।

इस शराबबंदी से अल्कोहल टूरिज्म की परिघटना सामने आई है। हाल में टेलिग्राफ ने यह खबर छापी कि पश्चिम बंगाल के तारापीठ में आए श्रद्धालुओं ने 2–3 दिनों में 4 करोड़ रुपये की शराब गटक ली। इन श्रद्धालुओं में अधिकांश बिहार से आए हुए थे। पास–पड़ोस के राज्यों में बिहार से सटे बाजारों में बढ़ी हुई रौनक बिहार में समृद्धि के सरकारी दावों को चिढ़ा रही है। यहां बिहार के पर्यटन उद्योग एवं व्यापार जगत को हुए नुकसान की चर्चा छोड़ देते हैं। हाल में एक नेपाली टीवी चैनल ने नेपाल शराब उत्पादक संघ के हवाले से बताया कि बिहार से सटे

सीमावर्ती क्षेत्रों में शराब की खपत चारगुनी हो गई है।

सामाजिक नहीं राजनीतिक वजहों से लिया गया फैसला

2010 के चुनाव नतीजों का एक विश्लेषण यह भी था कि महिलाएं नीतीश कुमार का समर्थन करने वाले जाति–धर्म से इतर एक स्वतंत्र मतदाता वर्ग के रूप में तैयार हो रही हैं। माना जाता है कि अपने पहले कार्यकाल में नीतीश ने पंचायतों में महिलाओं को आरक्षण, लड़कियों के स्कूल और कॉलेज स्तर पर चलाई गई विशेष योजनाओं, महिलाओं के स्वयं–सहायता समूहों जैसे सचेत और असरदार तरीकों से इसे तैयार किया था।

बिहार विधानसभा चुनावों में महिलाओं की भागीदारी साल 2000 के चुनावों से बढ़नी शुरु हुई थी और साल 2010 में नीतीश जब दूसरी बार जीत कर आए तो उस चुनाव में महिलाओं ने मतदान में पुरुषों को पीछे छोड़ दिया। माना जाता है कि इन बदलावों ने भी एक स्वतंत्र मतदाता–वर्ग के रूप में महिलाओं को देखने और उसे अपना वोटर बनाने के लिए नीतीश कुमार को सम्मोहित किया।

लेकिन दूसरी ओर 2015 के आते–आते उन्हें यह लगने लगा कि उन्होंने बड़े जतन से महिलाओं का जो स्वतंत्र मतदाता वर्ग तैयार किया है वह शराबखोरी के कारण बहुत परेशान है। गौरतलब है कि नीतीश सरकार ने ही ग्रामीण स्तर तक लाइसेंसी शराब की दुकानों का नेटवर्क फैलाया था। इसका बतौर राज्य बिहार को यह फायदा हुआ कि जहां उसे 2005 में शराब से करीब 500 करोड़ रुपये का राजस्व मिलता था, यह 2014–15 में बढ़कर करीब 4,000 करोड़ रुपये हो गया। लेकिन इस कारण परिवार से लेकर समाज के स्तर तक महिलाएं परेशानियों और हिंसा की चपेट में आने लगीं। यह महिला संगठनों द्वारा शराब की भट्ठी तोड़ने, उनके शराबबंदी के लिए किए जाने वाले विरोध–प्रदर्शन जैसी घटनाओं के जरिए सामने आने लगा।

ऐसे माहौल में एक कार्यक्रम में महिलाओं की ही मांग पर उन्होंने 2015 के चुनावों के बाद सत्ता में आने पर शराबबंदी की घोषणा कर दी और सरकार बनने पर इसे लागू भी किया। इस पृष्ठभूमि में यह कहा जा सकता है नीतीश सरकार के शराबबंदी के फैसला के पीछे सामजिक से ज्यादा राजनीतिक कारण रहे हैं।

हालांकि नीतीश कुमार ने अपने वर्तमान शासनकाल में सभी तरह की नौकरियों में महिलाओं को एक तिहाई आरक्षण देने, दहेज–प्रथा और बाल–विवाह के खिलाफ व्यापक अभियान चलाने फैसलों के जरिए भी जरिए महिलाओं को अपने पक्ष में करने का और भी सचेत प्रयास किया है। लेकिन इनमें से उनका सबसे महात्त्वाकांक्षी फैसला शराबबंदी ही है जिसकी चर्चा वह किसी भी मंच से करने से नहीं चूकते हैं। अभी हाल में ही चेन्नई में करुणानिधि की स्मृति में आयोजित सभा में उन्होंने कहा कि राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के प्रति सबसे बड़ा सम्मान यह होगा कि उनकी 150वीं जयंती के मौके पर पूरे देश में शराबबंदी लागू की जाए। हालांकि कई मंचों से नीतीश कुमार द्वारा किए गए इस आह्वान को पूरे देश में बिल्कुल ठंडा रिस्पांस ही मिला है। अब कोई सामाजिक सुधार का फैसला महज राजनीतिक वजहों से लिया जाय, वह भी उस व्यक्ति द्वारा जिसने अपने प्रथम दो कार्यकाल में बिहार को आकंठ शराब में डूबा दिया हो, तो क्या कहा जाय–प्रायश्चित या पाखंड?

आसान नहीं है शराबबंदी

'दास कैपिटल' में टी जे डानिंग को उधृत करते हुए कार्ल मार्क्स ने लिखा है– ''पर्याप्त मुनाफा मिले तो पूंजी धृष्ट हो जाती है, बीस फीसदी मुनाफा उसमें उत्कंठा पैदा करती है, पचास प्रतिशत मुनाफा ढिठई, मुनाफा सौ फीसदी हो तो तो पूंजी तमाम कानूनों को पैरों तले रौन्दने को तैयार हो जाती है, तीन सौ फीसदी और उससे अधिक मुनाफा हो तो ऐसा कोई अपराध नहीं जिसे करने से वह हिचकिचाए, ऐसा कोई जोखिम नहीं जिसे उठाने को वह तैयार न हो, भले ही उसके मालिकों को फांसी पर ही क्यों न चढ़ना पड़े।''

बिहार में शराबबंदी के बाद शराब का जो गैरकानूनी धंधा पनपा है वह ऊपर मार्क्स द्वारा वर्णित 300 फीसदी मुनाफा देनेवाला व्यवसाय बन गया है। इसीलिए इसमें सभी छोटे–बड़े अपराधी–पॉकेटमार से लेकर सुपारी किलर तक एवं सभी तरह के धंधेबाज शामिल हो गए हैं। बिहार का यह अनुभव और मोदी के गुजरात और अमेरिका सहित दुनिया भर के प्रयोग इसकी पुष्टि करते हैं कि जहां–जहां पूर्ण शराबबंदी लागू की गई है वह समय के साथ नाकाम साबित हुई है। शराबबंदी के बाद अपराधी–पुलिस–प्रशासन द्वारा शराब के गैरकानूनी धंधा का एक मजबूत नेटवर्क तैयार हो जाता है और यह अनिवार्य तौर पर जन विरोधी होता है।

पेशेवर अपराधियों को दूसरे जुर्म के मुकाबले यह धंधा कहीं ज्यादा सुरक्षित लगता है। बिहार में पुलिस–प्रशासन और शराब माफिया के नापाक गठजोड़ के उदाहरण अक्सर सामने आते रहते हैं। इस धंधे में एसपी स्तर तक के अधिकरियों की मिलीभगत के प्रत्यक्ष उदाहरण सामने आए हैं। साथ ही एक और चिंताजनक बात यह सामने आ रही है कि बड़े पैमाने पर बच्चों और युवाओं का इस्तेमाल शराब तस्करी के लिए किया जा रहा है। इसमें संलग्न बच्चे और युवा भी आम तौर पर कमजोर तबके से ही हैं। एक बड़ी समस्या यह है कि तरह–तरह की देसी शराब आसानी से घर में बनाई जा सकती है। शराबबंदी से इसमें बेतहाशा वृद्धि होती है और कई बार यह जहरीली शराब के उत्पादन में प्रकट होती है। नीतीश कुमार द्वारा अपने प्रथम कार्यकाल में शराब की कानूनी बिक्री के दयारे को बढ़ाने का तर्क

यह था कि इससे अवैध व जहरीली शराब के उत्पादन में कमी आएगी। अमेरिका में शराबबंदी का इस कदर विरोध हुआ कि उसके प्रतीक के रूप में आज भी देसी शराब 'मूनशाइन डे' मनाया जाता है। देखें बॉक्स, पृष्ठ 25)

यह सच है कि मानव सभ्यता के विकास के साथ खान–पान का हिस्सा बन चुके शराब सेवन के खिलाफ सदियों से हमारे समाज सुधारकों ने अभियान चलाया है। प्रसिद्ध लेखक डायसन कार्टर ने अपनी बहुचर्चित किताब 'सिन एंड साइंस' में दुनिया भर के अनुभवों को रखते हुए शराबखोरी को जुआ और वेश्यावृति की तरह करीब–करीब लाइलाज माना है। यही कारण है यह मुद्दा मानव समाज का एक चिरकालिक कार्यभर बना हुआ हैं लेकिन इस मुद्दे को उसके नैतिक आभा और सामाजिक परिप्रेक्ष्य से काटकर एक संकीर्ण राजनीतिक एजेंडा में पतित कर दिया गया है। यही कारण है कि बिहार में शराबबंदी का विरोध और समर्थन दोनों ही निहायत राजनीतिक नजरिए से हो रहे हैं। कभी विरोध तो कभी समर्थन के राजनीतिक खेल से आसानी से इसे समझा जा सकता है। सबसे चिंतनीय पक्ष है कि जैसाकि वर्तमान में देश के निजाम का मिजाज है, बिहार के निजाम ने भी इस चिरकालिक कार्यभार को पूरा करने के लिए दंड संहिता को अस्त्र–शस्त्रों से लैस कर रखा है। कहना मुश्किल है कि यह नीतीश कुमार का राजनीतिक दुस्साहस है या फिर सम्मोहक पाश?

बिहारी समाज में गरीबों पर ऐसे ही दबिशों की कमी नहीं है, शराबबंदी में सबसे अधिक गरीब ही प्रताड़ित हो रहे हैं। एक ऐसा राज्य जहां ऐतिहासिक और सामाजिक कारणों से गवर्नेंस पहले से ही एक मुश्किल काम हो, वहां तथाकथित शराबबंदी के बाद इसे संभालने की चुनौती और बढ़ गई है।

क्या सरकार माफिया नेटवर्क को ध्वस्त कर पायेगी ?

बिहार में शराबबंदी की विफलता का सबसे बड़ा कारण है कि यह एक सरलीकृत नजरिए पर आधारित है जिसमें सभी पीनेवालों को अपराधी मन लिया जाता है, पियक्कड़ और पीनेवालों में में फर्क नहीं किया जाता और अपराध, हिंसा समेत सभी बुराइयों के लिए शराब सेवन को जिम्मेवार माना जाता हैं। साथ ही यह समझने की जरूरत है कि शराबबंदी का एक मुख्य तरीका ''प्यासी जनता'' को दंडित करने के बजाय शराब की उपलब्धता कम करना है। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर, शराबबंदी के लिए आपूर्ति कम करने पर ध्यान केंद्रित किया जाता है। शराब पीने वालों को दंडित करना आम तौर पर पहली प्राथमिकता नहीं होती है। लेकिन सरकार ने न तो पहले ऐसा कुछ किया और न ही निकट भविष्य में उसका ऐसा कोई इरादा ही लगता है। इसके लिए यह जरूरी है कि सबसे पहले पुलिस–प्रशासन और शराब माफिया के नेटवर्क को ध्वस्त किया जाए। उल्लेखनीय है कि बिहार में अक्सर ऐसे ही नेटवर्क राजनीतिक सत्ता की ताकत हुआ करते हैं। क्या नीतीश सरकार में इतनी राजनीतिक इच्छा शक्ति है कि इस नेटवर्क को ध्वस्त करेगी?

जहानाबाद में ही कोर्ट ने 19 जुलाई को 2018 को चाई मांझी और अर्जुन मांझी को महुआ चुआकर शराब बनाने के जुर्म में 10 साल की कैद और जुर्माना की सजा सुनाया। नीतीश के राज में यह फैसला ऐसे समय में आ रहा है जब भारत सरकार के आदिवासी मामलों के मंत्रालय ने महुआ की बॉटलिंग और एक ब्रांड के रूप में उसे बाजार में उतारने की महत्वाकांक्षी योजना बनायी है। महुआ की विलक्षणता के कारण इसकी सफलता को सुनिश्चित माना जा रहा है और यह कि 'भारत में निर्मित विदेशी शराब' जैसी औपनिवेशिक नीति के कारण यहां शराब का देशी ब्रांड विकसित नहीं हो पाया। इसकी आपूर्ति के लिए आदिवासी इलाकों खासकर बस्तर को केंद्र बनाया जा रहा है।

यहां इस उदहारण को रखने का तात्पर्य यह है कि चाई मांझी और अर्जुन मांझी द्वारा महुआ चुआना उनकी जीविका है कोई व्यवसाय नहीं है। उनकी पारम्परिक जीविका का विस्तार या विकल्प न खोज कर नीतीश सरकार उसे अपराध बता रही है। ताड़ी और देशी शराब से ज्यादातर गरीब और पिछड़े वर्ग के लोग जुड़े हुए थे, जिनकी आमदनी और रोजगार का यही एकमात्र जरिया था। शहर से लेकर ग्रामीण स्तर तक हजारों लोग प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से देशी–विदेशी शराब के रोजगार से जुड़े हुए थे। लेकिन शराबबंदी को लागू करते समय सरकार शराब के पेशे से जुड़ी बड़ी आबादी के रोजगार और पुनर्वास से संबंधित पहलुओं पर पर्याप्त ध्यान देने में नाकाम रही। सरकार ने उन्हें रोजगार का बेहतर विकल्प दिए बिना ही उनकी आजीविका को नष्ट कर दिया। इस नजरिए से भी शराबबंदी का फैसला गरीब विरोधी लगता है। इस कारण भी इस पेशे से जुड़ी आबादी का एक हिस्सा, युवा और अन्य लोग आजीविका के लिए शराब के अवैध व्यापार में शामिल हो गए हैं।

बिहार सरकार ने ताड़ी से नीरा उत्पादन की अच्छी पहल शुरू की है लेकिन ताड़ी के व्यवसाय से जुड़े पारंपरकि लोगों को शायद ही अब तक इससे कोई फायदा हुआ है। सरकार को अतीत में कांग्रेस सरकार द्वारा नीरा उत्पादन की विफलता का भी अध्ययन करना चाहिए। इसके अलावा, सरकार को चाहिए कि सभी प्रखंडों में नशा विमुक्ति केंद्र की स्थापना करे ताकि शराब सेवन के आदी लोगों का पुनर्वास किया जाए। सरकार शराबबंदी के नाम पर गरीब जनता को हैरान–परेशान करना बंद करे और इस कानून के तहत जेलों में बंद लोगों को फौरन रिहा करे।

बिहार में शराबबंदी को लेकर प्रारंभ में मिलीजुली प्रतिक्रियाएं थीं। आज आम धारणा बन गई है कि मोटे तौर पर यह न केवल असफल है बल्कि बिहार की गरीब जनता के खिलाफ संगठित राजकीय दमन अभियान है। ❐

जाति और राजनीति

प्रेमकुमार मणि

जाति मनुष्यों का एक ऐसा समूह है जो न नस्ल है, न वर्ग, लेकिन नस्ल की तरह रूढ़ जरूर है। हिन्दू धर्मशास्त्रों में वर्णित वर्ण व्यवस्था वाले वर्ण से इसका गहरा संबंध है, लेकिन यह पूरी तरह वर्ण भी नहीं है। इसी तरह पेशे से भी इसका संबंध है, लेकिन इसपर भी प्रश्न चिह्न है। सब मिलाकर हम कह सकते हैं कि वर्ग, वर्ण, पेशे, नस्ल और जन्म की एक मिलीजुली अवस्थिति का नाम जाति है, लेकिन इसका सबसे अधिक संबंध जन्म से है, जाति का अर्थ भी यही है।

हिन्दू धर्मग्रंथ 'मनुस्मृति' में विस्तार से वर्ण और जाति के परस्पर संबंध को देख सकते हैं। जिस काल में यह संहिता तैयार की गई थी, उस समय कई मजहबों के लोग यहां नहीं थे। संप्रदाय रहे होंगे, जिनमें विचार के स्तर पर भेद होंगे। जैसे शैव और वैष्णव आदि। हालांकि मनुस्मृति में सीधे तौर पर इन संप्रदायों की चर्चा नहीं है, लेकिन यह अवश्य प्रतीत होता है कि तब समाज में अनेक तरह के पेशे सृजित हो गए थे। इन पेशों की सूचना मनुस्मृति से ही मिलती है।

पेशों के परिष्कार से नई जातियों के बनने की सूचना नहीं मिलती। जैसे मिस्त्री यदि लोहा का काम करेगा तो लुहार और काठ का काम करेगा तो बढ़ई कहा जाएगा, ऐसा नहीं है। मनुस्मृति में इनकी व्युत्पत्ति जन्म से मानी गई है। मनु ने सौ से अधिक वर्णसंकर जातियों की सूची जारी की है, जो अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों से जनित संतानों के लिए पेशे निर्धारित करती है। यानी पेशा व्यक्ति स्वयं चुनने के लिए स्वतंत्र नहीं है, उसका निर्धारण सामाजिक व्यवस्था करेगी। अनुलोम विवाह का अर्थ है ऊंचे वर्ण के पुरुष के साथ निम्न वर्ण की स्त्री का विवाह। जैसे ब्राह्मण पुरुष और क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र स्त्री का विवाह। ऐसे विवाहों से जनित संतानों को बेहतर यानी साफ–सुथरे काम दिए गए हैं। लेकिन प्रतिलोम विवाहों यानी नीचे वर्ण के पुरुष के साथ उच्च वर्ण की स्त्री का विवाह यदि होता है तो इसे अपराध माना गया है और इनसे जनित संतानों को हेय यानी गंदे पेशे (साफ–सफाई करने) दिए गए हैं। उनके नागरिक अधिकारों को भी बहुत कम किया गया है। उदाहरण के लिए शूद्र पुरुष और ब्राह्मण स्त्री से जनित संतान को चांडाल कहा गया है और उसके तमाम नागरिक अधिकार छीन लिए गए हैं। मंशा यही है कि प्रतिलोम विवाहों को हतोत्साहित किया जाए। ब्राह्मण और पुरुष की श्रेष्ठता स्थापित करना मनुस्मृति का लक्ष्य है। वहीं से हमें इस बात की जानकारी मिलती है कि लगातार हो रहे अंतरवर्णिक विवाहों (अनुलोम और प्रतिलोम दोनों) से असंख्य जातियों की उत्पत्ति होती है। यदि मनु की मानें तो अनुलोम विवाहों से मध्य और प्रतिलोम विवाहों से अंत्यज अछूत जातियों की उत्पत्ति हुई है। एक लंबे समय में यह सब हुआ होगा।

लेखक अपनी चिंतनपूर्ण सम सामयिक टिप्पणियों के लिए जाने जाते हैं। 'चिंतन के जन सरोकार' इनकी हालिया प्रकाशित पुस्तक है।

वर्ग, वर्ण और जाति में एक अंतर्संबंध है, यह बात तमाम अध्ययनों में सामने आती है। कहा जाता रहा है कि वर्ग एक खुली जाति है और जाति एक बंद वर्ग। किसी व्यक्ति का वर्ग अपने कर्म से, कर्म फल से बदल सकता है। एक निम्न वर्ग का आदमी परिश्रम से धन एकत्रित कर उच्च वर्ग में जा सकता है। यह व्यक्ति के आर्थिक स्तर को दर्शाता है। लेकिन क्या एक निम्न वर्ण का व्यक्ति ज्ञान और धन अर्जित कर उच्च वर्ण में जा सकता है? कदापि नहीं। पहली बात तो यह कि उसे ज्ञान और धन अर्जित करने की मनाही है, इसके कारण उसका ऐसा करना संभव नहीं है। यदि कर भी लेता है तो इसकी मान्यता नहीं होगी। वर्ण का निर्धारण ज्ञान और धन पर नहीं, बल्कि जन्म से होगा। यदि कोई व्यक्ति वर्ण की मर्यादा का तिरस्कार करता है, तो वह अपराध है, और इसके लिए दंड की व्यवस्था है। मसलन एक शूद्र यदि धन अर्जन करता है तो राजा को उससे छीन लेने की अपेक्षा की गई है और यदि ज्ञान अर्जन करता है तो शंबूक की तरह उसका शिरोच्छेद हो जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में किस तरह के गतिहीन समाज की रचना हो सकती है, अनुमान किया जा सकता है।

19वीं सदी के मध्य में सुप्रसिद्ध चिंतक कार्ल मार्क्स ने भारत संबंधी अपने लेखों में भारत की सामाजिक–आर्थिक स्थितियों की एक भिन्न तरह से विवेचना की। इस विवेचना में जाति व्यवस्था पर भी उनका ध्यान जाता है। वह भारत की ग्राम व्यवस्था की आर्थिक व्याख्या करते हुए इस निष्कर्ष पर आते हैं कि पुराने किस्म के औजारों से वहां जो एक सरल उत्पादन प्रणाली बनी है वह बहुत स्वावलंबी है। गांव में अनाज हो जाता है, बुनकर कपड़े बुन लेता है, जरूरत के अन्य सामान विभिन्न पेशों से जुड़े लोग पैदा

कर लेते हैं। लेकिन इस आत्मनिर्भरता से एक गतिहीनता भी विकसित होती है। इसने ग्रामीण जीवन से जुड़े मनुष्यों की सोच को जड़ बनाकर रख दिया है। मार्क्स के ही शब्दों में "ये काव्यमय ग्रामीण बस्तियां ऊपर से चाहे जितनी ही निर्दोष दिखाई देती हों, पूर्व की निरंकुशता का सदा ठोस आधार रही हैं। मनुष्य के मस्तिष्क को उन्होंने संकुचित से संकुचित सीमाओं में बांध रखा है। ...हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इस अशोभनीय, निश्चल और निष्क्रिय जीवन में इस अकर्मण्य अस्तित्व ने, अपने से भिन्न, विनाश की जंगली, निरुद्देश्य और उच्छृंखल शक्तियों को उत्पन्न कर दिया था और नर हत्या तक को भारत की एक धार्मिक प्रथा बना दिया था। ...हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि छोटे–छोटे ग्राम–समुदाय जात–पात के भेदभाव तथा दास प्रथा से विषाक्त हो चुके थे। उन्होंने परिस्थितियों के स्वामी के रूप में मनुष्य का विकास करने के बजाय उसे परिस्थितियों का दास बना दिया था। इसकी अधोगति का पता इस तथ्य से ही चल जाता है कि मनुष्य, जो प्रकृति का शासक है, वानर हनुमान और गाय के सामने घुटने टेकने लगा।"

कुछ यही कारण है कि मार्क्स ने भारत में अंग्रेजी राज को इतिहास का अवचेतन साधन कहा था। अंग्रेजों ने पुराने पारंपरिक औजारों पर टिकी उत्पादन व्यवस्था, जिसमें पारंपरिक कपड़ा उद्योग प्रमुख था, को तहस–नहस कर दिया था। मार्क्स ने इसपर अफसोस प्रकट नहीं किया है, बल्कि जर्मन कवि गेटे की एक पंक्ति कि 'वह दुःख महान होता है, जो एक महान सुख को जन्म देता है' को उद्धृत कर इसकी सराहना की है और इसे ही इतिहास का अवचेतन साधन बतलाया है। हां, वैकल्पिक उत्पादन–प्रणाली यानि नई औद्योगिक व्यवस्था विकसित न करने के लिए अंग्रेजों की तीखी आलोचना भी की है।

मार्क्स का यह विश्लेषण बतलाता है कि इस 'जाति' का संबंध पुराने तरीके की उत्पादन प्रणाली से भी था, जहां उत्पादन में अधिशेष की सीमित मात्रा ही संभव थी और इसे हड़पने के लिए राज्य और पुरोहित एक–दूसरे के सहायक होते थे। लेकिन दुनिया के अन्य हिस्सों में भी तो पिछड़ी हुई उत्पादन व्यवस्था थी। वहां इस प्रकार की जाति की मौजूदगी की कोई सूचना नहीं मिलती। कोरिया के पाइकचोंग और जापान के इता मानव समूह भी जाति की तरह की ही रचना हैं। उनके साथ वहां के शेष लोग शूद्रों की तरह व्यवहार करते हैं। अमेरिका में मूलनिवासियों और निग्रो लोगों के प्रति श्वेतों का नस्ली व्यवहार या फिर इंग्लैंड में आर्थिक आधार पर लॉर्ड, अर्ल, ड्यूक और कॉमन मैन के भेद सामाजिक गैर बराबरी के संकेत देते हैं। लेकिन यह जाति एक अलग तरह की चीज है जो केवल भारत और इर्द–गिर्द के देशों में है। यह ठीक है कि हिन्दू धर्मशास्त्रों में वर्णित वर्ण व्यवस्था से यह व्युत्पन्न है और हिन्दू धर्म और जाति में एक अभिन्न संबंध है। यह भी कह सकते हैं कि जाति और वर्ण को हिन्दू धर्म में शास्त्रीय मान्यता प्राप्त है इसलिए ज्यादातर हिन्दू विद्वानों ने स्वयं को इसके पक्ष में बनाए रखने की कोशिश भी की है। एक उदाहरण तो गांधी ही हैं। भारत में विद्यमान अन्य मजहबों में भले ही वर्ण और जाति को धार्मिक मान्यता न हो, लेकिन उन धार्मिक समूहों में भी जाति की मौजूदगी, भेद और नफरत है। मुसलमानों में अशराफ, अरजाल और अजलाफ में तीखे भेद हैं और अशराफ जातियों की भी हिंदुओं की तरह एक सूची है, जैसे सैयद, शेख, मलिक, पठान। और निम्न जातियों की तो लंबी सूची है। ईसाइयों में भी जातिभेद है। एक अध्ययन के अनुसार करीब दो करोड़ भारतीय ईसाइयों में से साठ फीसदी जातिभेद का उत्पीड़न झेल रहे हैं। दलित ईसाइयों पर 1936 में गांधी जी ने अपनी पत्रिका 'हरिजन' में संपादकीय लेख लिखा था। सिक्खों में जातिभेद को कोई भी देख सकता है।

आधुनिकता से जाति की मुठभेड़

भारत में औद्योगिक क्रांति जैसी कोई घटना नहीं हुई। फ्रांसीसी क्रांति जैसी भी नहीं। इसलिए जाति को गंभीर चुनौतियों का सामना नहीं करना पड़ा। अंग्रेजों के आने से पुरानी व्यवस्था को जो सीमित चुनौतियां मिलीं उसकी चर्चा ऊपर कर चुका हूं। ब्रिटिश उपनिवेश के खिलाफ हमारा राष्ट्रीय आंदोलन स्वाभाविक रूप से समाज के बुर्जुआ तबके द्वारा संचालित हुआ, जो भारतीय परिप्रेक्ष्य में तथाकथित ऊंची जातियों से ताल्लुक रखते थे। निम्न जातियों से बड़ी संख्या में सेनानी और कार्यकर्ता जरूर आए, लेकिन इनकी भूमिका जेल जाने और गोली खाने तक सीमित थी। चौरी–चौरा कांड पर शाहिद अमीन के अध्ययन यही बतलाते हैं कि किस तरह इसकी जड़ें मजदूर और किसान समाज में थीं। गांधी वहां गांधी बाबा थे, एक अवतारी पुरुष जिनके बारे में अनेक तरह की किंवदंतियां थीं। भोले–भाले इन किसान मजदूरों के लिए स्वतंत्रता आंदोलन का वही अर्थ नहीं था जो बड़े लोगों के लिए था। अंग्रेजों से उनका उतना वास्ता नहीं था जितना जमींदारों से। उनकी 'छोटी–सी' जिंदगी को इन जमींदारों ने तबाह कर रखा था और वे इनसे मुक्ति चाहते थे। लेकिन स्वतंत्रता आंदोलन में किसान मजदूरों के सवाल एजेंडे में शामिल नहीं थे, जाति मुक्ति के सवाल शामिल नहीं थे, सामाजिक बराबरी और भाईचारे के सवाल शामिल नहीं थे। इसलिए कम्युनिस्टों, सोशलिस्टों और आंबेडकर–पेरियार जैसे लोगों ने जब मेहनतकश तबकों और जाति के सवाल उठाए, तब राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के नेतृत्वकारी वर्ग ने इसे मूल मुद्दे को कमजोर करने के रूप में लिया। नेहरू, आंबेडकर और अन्य समाजवादी यह चाहते थे कि ब्रिटिश राज समाप्त होने के बाद जो भारतीय राष्ट्र का ढांचा बनेगा उसकी बुनियाद क्या होगी, प्रारूप क्या होगा– इसे स्पष्ट किया जाना चाहिए। इस वैचारिक संघर्ष की एक लंबी कहानी है। आजादी मिलने के पूर्व ही संविधान बनाने के लिए संविधान सभा का गठन हुआ, जिसने एक दीर्घकालिक विमर्श के उपरांत 26 नवंबर, 1949 को भारतीय संविधान को आत्मसात किया। तय हुआ कि 26 जनवरी, 1950 से इसे लागू किया जाएगा। 26 जनवरी हमारे आधुनिक भारत का एक ऐतिहासिक दिन हो गया, जिसे हम हर वर्ष उत्सव के साथ याद करते हैं। 1952 में प्रथम आम चुनाव की घोषणा हुई। इस चुनाव की विशेषता थी कि 21 वर्ष की उम्र के हर भारतीय स्त्री–पुरुष को वोट का अधिकार दिया गया था

और एक वोट एक मूल्य का सिद्धांत अपनाया गया था। यानि हर वोट का मान बराबर था।

आंबेडकर सभी नागरिकों को संविधान द्वारा प्रदत्त राजनैतिक अधिकार से बहुत उत्साहित नहीं थे। हालांकि संविधान का प्रारूप उन्होंने ही तैयार किया था और नीति निदेशक तत्वों को तय करने में भी उनकी बड़ी भूमिका थी। आंबेडकर गांधीवाद से, उनके ग्रामवाद और रामराज से तनिक भी प्रभावित नहीं थे,बल्कि विरोधी थे, लेकिन नेहरू से अनेक स्तरों पर उनका मन मिलता था। नेहरू स्वयं गांधीवाद से प्रभावित नहीं थे। इसका विस्तारपूर्वक खुलासा उन्होंने अपनी आत्मकथा में किया है। आंबेडकर और कई दूसरे नेता चाहते थे कि भूमि और उत्पादन के दूसरे संसाधनों के बारे में संविधान सभा कोई बड़ा फैसला ले। जमींदारी तो खत्म हो ही, जमीन का अधिकार उसे जोतनेवालों को मिले, न कि उसे धारण करने वालों को। संविधान सभा में जमींदारों का बहुत प्रभाव था, इसलिए किसी क्रांतिकारी घोषणा की उम्मीद नहीं की जानी थी। बहसों के बीच सभा का मिजाज उभर कर बार–बार प्रकट होता था। इसलिए संविधान के तीसरे वाचन पर बोलते हुए आंबेडकर ने उदास लहजे में कहा था कि हम एक अंतर्विरोधों से भरे भारत में प्रवेश करने जा रहे हैं जहां हर किसी को वोट देने का राजनैतिक अधिकार तो होगा, लेकिन आर्थिक और सामाजिक बराबरी नहीं होगी।

पहले आम चुनाव में ही जाति के सवाल उभर कर आए। दलितों और आदिवासियों के लिए तो सुरक्षित सीटें थीं,लेकिन अन्य पिछड़े वर्गों को किसी तरह का कोई आरक्षण नहीं था। इनकी आबादी कुल आबादी के पचास प्रतिशत से अधिक थी। दलितों और आदिवासियों को अपनी आबादी के अनुसार सीटें संविधान ने आरक्षित कर दी थीं, जो आंबेडकर के लंबे संघर्ष का प्रतिफल था, लेकिन अन्य पिछड़े तबकों की सीटें सामान्य थीं और यही ऊंची जातियों का राजनीतिक चारागाह था। उदाहरण के लिए 1952 के बिहार विधानसभा चुनाव में ऊंची जातियों की कुल आबादी 12.7 प्रतिशत के मुकाबले विधानसभा में उनका प्रतिनिधित्व साढ़े तीन गुना अधिक 44.29 प्रतिशत हुआ। पिछड़े वर्ग की आबादी 50 प्रतिशत थी, उनका प्रतिनिधित्व केवल 22.86 प्रतिशत यानि आधे से कम हुआ। उत्तर प्रदेश में ऊंची जातियों की कुल आबादी 20.4 प्रतिशत के मुकाबले उनका प्रतिनिधित्व 58 प्रतिशत यानि तिगुना हुआ,वहीं पिछड़ी जातियां 42 प्रतिशत आबादी के मुकाबले केवल 7 प्रतिशत सीटें जीत सकीं। उल्लेखनीय यह भी है कि उत्तर प्रदेश का ग्रेस, जो तब शासक दल था, के 81 प्रतिशत कैडर ऊंची जातियों से थे, पिछड़ी जातियों से केवल 5 प्रतिशत थे। यह उदाहरण उत्तर भारत के केवल दो बड़े प्रदेशों का है। लगभग पूरे भारत की स्थिति कमोबेश ऐसी ही थी।

1960 के दशक में समाजवादी नेता राममनोहर लोहिया ने 1964 के संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी, जो हाल ही में प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के एक हिस्से और सोशलिस्ट पार्टी के विलय से बना नया समाजवादी राजनीतिक दल था, के बनारस अधिवेशन में एक जाति–नीति की घोषणा की कि उनकी पार्टी पिछड़े लोगों को हर क्षेत्र में साठ प्रतिशत स्थान देने के लिए संघर्ष करेगी। एक नारा दिया गया– 'संसोपा ने बांधी गांठ, पिछड़ा पावे सौ में साठ'। इस नारे ने उत्तर भारत के पिछड़े वर्गों के राजनीतिक कार्यकर्ताओं को आंदोलित कर दिया। इस तबके के लोग किसानी और दस्तकारी से जुड़े थे और ज्यादातर गांव–कस्बों में रहते थे। मुश्किल से पहली या दूसरी पीढ़ी पढ़–लिख सकी थी, वह भी देशी भाषाओं में। जैसे उत्तर भारत में उनका माध्यम हिन्दी था। निश्चय ही इनका सौंदर्य बोध और इनकी सोच थोड़े भिन्न किस्म की थी, जिसकी कुछ मायनों में आलोचना भी अपेक्षित थी। जैसे संयुक्त परिवार और कुछ दूसरे गांधीवादी आग्रहों के प्रति इनके झुकाव प्रकट होते थे। लोहिया ने इन सबका मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया और बहुत संभव है, कुछ यही कारण रहा होगा कि उन्होंने गांधी और हिन्दू पौराणिकता (राम–कृष्ण–शिव) से एक संबंध बनाए रखा। उनके अनुसार सीधे–सीधे यूरोपीय किस्म का मार्क्सवाद पिछड़े वर्ग के लोगों की समझ में जल्दी आने वाला नहीं था। इस बीच जमींदारी व्यवस्था खत्म कर दी गई थी, इसलिए किसान कुछ आजादी महसूस कर रहे थे, क्योंकि उनकी गुलामी तो जमींदारों से जुड़ी थी। भूमि सुधारों की अब भी काफी जरूरत थी, क्योंकि जमींदारों ने बड़ी मात्रा में जमीनें बेनामी और अन्य कई रूपों में अपने काबू में कर ली थीं। बड़े पैमाने पर इसमें धांधली हुई थी। फिर भी पहले के मुकाबले एक परिवर्तन तो आया ही था।

जमीन से जुड़ाव पिछड़े वर्गों के लोगों की एक बाधा भी थी। चाहकर भी जमीन इनसे छूटती न थी, क्योंकि दाना–पानी वहीं से मिलता था। ऊंची जातियों के लोग खुद से खेती नहीं करते थे। उनके बीच से लोग आधुनिक शिक्षा द्वारा तेजी से आधुनिक पेशे से जुड़ते गए। वकालत, डाक्टरी, अफसरी या अन्य किस्म की नौकरियों से वे जुड़े, तब गांव कभी–कभार ही लौटकर आए। गांव तो उनके लिए पिकनिक प्वाइंट बन गए थे, जहां वे और उनके परिवार के बच्चे तितलियों, जुगनुओं, कमल के फूलों और अमराइयों से परिचित होते थे। गांव के संघर्षों से वे अनजान थे। दलितों और किसानों की हालत से वे परिचित नहीं थे।

इनके मुकाबले किसान–दस्तकार परिवार के बच्चों की स्थिति भिन्न थी। शहरों में उनके रिश्तेदार नहीं थे। वह उनके लिए परदेश था। अपनी पढ़ाई पूरी करने के लिए जब वे शहर स्थित कॉलेज–युनिवर्सिटियों में जाते तो उनका मजाक उड़ाया जाता। उनके धज और उनकी बोली–बानी शहरियों के लिए विचित्र हुआ करती थी। नई लोकतांत्रिक दुनिया, नए बदलाव, क्रांतियां, नए विचार सब उन्हें अजूबे लगते। लेकिन इनकी जिज्ञासा बहुत सघन थी। ये सब कुछ जानना–समझना चाहते थे, वह भी शीघ्रातिशीघ्र। उनकी बेचौनी अनेक रूपों में दिखती थी। कुछ आत्मकथाएं भी इसकी सूचना देती हैं।

हरित क्रांति के कुछ पहले ही ऊंची जातियों के लोग शहरों पर कब्जा जमा चुके थे। वे आधुनिक पेशों से जुड़ भी गए थे। इनके लिए गांव अब तेजी से छूट रहे थे। वे वकील, डॉक्टर,

अफसर, अध्यापक, पत्रकार आदि बनकर शहर की खूबसूरत कॉलनियों के नागरिक बन गए थे। उन्होंने अपनी जाति को भी मन से निकाल दिया था। अंतरजातीय विवाहों से उनका एक नया क्लास और कास्ट उभर रहा था। वे अब ब्राह्मण, राजपूत, कायस्थ न होकर 'अपर कास्ट' थे। अपने मिजाज से तो वे जातिमुक्त हो गए थे। वे तो अन्य थे, जिनकी नजर में वे कहीं अधिक मजबूत कास्ट – अपर कास्ट – के सदस्य बन गए थे। मार्क्सवाद, नेहरू, आधुनिक कला, थियेटर सब से वे जुड़े। उनके ड्राइंग रूम विमर्शों के केंद्र बने। उनकी बहसों में टोकियो से लॉस एंजेल्स तक की विचार यात्रा होती। गांव तो अब उनके लिए अधिक–से–अधिक एक नॉस्टेल्जिया बनकर रह गए थे। किसी बड़ी–सी तितली का चित्र उनके ड्राइंग रूम की शोभा बढ़ाते या उनके किसी बेबी का नाम जुगनू हो जाता। उनकी बीवी की किसी हिन्दी पत्रिका में एक कविता छपती, जिसका शीर्षक होता– कुहू। गांव अब उनके लिए इतना ही मायने रखता था।

गांव के लोग, खासकर दलित–पिछड़े गांव से मुक्त होना चाह रहे थे। नई पीढ़ी के लोग नहीं चाहते थे कि गांव का कोई बड़ा या मध्यम किसान उसे अपमानित करे। हर गांव में अनेक स्तरों पर संघर्ष छिड़ा हुआ था। मध्यम किसान, जो किसी औद्योगिक मजदूर या ऑफिस के कर्मचारी के मुकाबले खराब आर्थिक स्थिति का था, भी बंदूक रखकर अपनी औकात बढ़ाना चाहता था। अपने से नीचे के भूमिहीन किसानों और दलितों पर अपना रौब कायम कर, उनकी स्त्रियों से बलात्कार कर वह अपनी जिंदगी में कुछ 'रौनक' लाना चाहता था। उसकी आकांक्षाएं घृणित थीं और इरादे संकुचित। सरवेंतिस के उपन्यास 'डॉन क्विक्जोट' की तरह अपनी उजाड़ दुनिया में वह सामंतवाद के परकोटे सजाना चाहता था। बिहार और उत्तर प्रदेश के ग्रामीण इलाकों में बड़ी संख्या में हुए जनसंहारों के पीछे यही मानसिकता काम कर रही थी। इन मध्यम किसानों में ज्यादातर ऊंची जातियों के लोग थे, लेकिन पिछड़ी जाति के किसानों की संख्या भी कम नहीं थी। बिहार सरकार ने दस साल पहले भूमि सुधार आयोग का गठन किया था। इसके अध्यक्ष डी. बंद्योपाध्याय ने जो रिपोर्ट दी है, उसमें बिहार के 15 बड़े भूमि–विवादों की सूची है, इसमें आधे से अधिक मामलों में एक पिछड़ी जाति ने दलितों को तबाह किया है।

मेरा अपना अनुभव रहा है कि पिछड़े वर्गों की अपेक्षा दलितों का आधुनिकीकरण ज्यादा हुआ है। उनकी राजनीति भी अधिक परिपक्व है। दलितों की सभाओं में जब भी बात होती है तो बुद्ध, मार्क्स, लिंकन, फुले, आंबेडकर आदि की चर्चा होती है। अपनी बात में वे कांशीराम से नीचे नहीं उतरना चाहते। शायद ही जगजीवन राम की कभी चर्चा होती है और मायावती को भी वोट दे देते हैं, क्योंकि कोई विकल्प नहीं है, लेकिन कोई महत्त्व देना नहीं चाहते। पिछड़े वर्गों की बैठकों में वैचारिक दारिद्र होता है। यदि यादवों की बैठक है तो मंडल से शुरू होकर लालू–मुलायम पर खत्म हो जाती है, यदि कुर्मियों की है तो पटेल से शुरू होकर किसी इलाकाई पटेल पर। विचारकों का उनके यहां टोटा है। किसानी से जुड़ी जातियों में इस वैचारिक दारिद्र का एक बड़ा कारण गांधीवाद से उनका जुड़ाव है। दलितों ने गाँधीवाद की रामनामी कब की फेंक दी, उनके दिए 'हरिजन' नाम को उन्होंने गाली करार दिया। लेकिन पिछड़े वर्गों में गांधी के प्रति एक व्यामोह बना हुआ है। यह क्यों है इसके लिए एक गहरे विमर्श की जरूरत होगी। पिछड़े वर्गों के लोग लंबे समय से जिन पार्टियों से जुड़े रहे, उसमें मुख्य है लोकदल और फिर उसका अगला संस्करण जनता दल। इन पार्टियों के घोषणा पत्रों के अध्ययन बतलाएंगे कि वे कितने विचार शून्य हैं।

द्विज जातियों ने राजनीति को अपनी तरह से ग्रहण किया है। उनका वह हिस्सा, जिसका शहरीकरण हो चुका है, एक सीमित लोकतंत्र, सेकुलरवाद और ग्लोबल आर्थिक सुधारों की वकालत करता है। वह एक सीमित प्रगतिशीलता की भी बात करता है। हाल के दिनों में इसका दो हिस्सों में विभाजन हुआ है। बड़े हिस्से का झुकाव दक्षिणपंथी राजनीति की ओर है। वह एक मजबूत राष्ट्र, मजबूत आर्थिक स्थिति और सुशासन की इच्छा रखता है। उसकी इच्छा होती है कि पूरी भारतीय सेना को ग्रीन हंट पर उतार दिया जाए और आदिवासियों को मार–काट कर आदिवासी इलाकों को जबरन विकास की चकाचौंध से जोड़ दिया जाए, जहां हमारी संततियां हुकूमत करें। इसका दूसरा हिस्सा एक जवाबदेह राष्ट्र की वकालत करता है, एक विश्वदृष्टि रखता है और एक वास्तविक लोकतंत्र की आकांक्षा रखता है, जहां सबकी बातें सुनी जाएं।

गांवों में जो ऊंची जातियों के मध्यम किसान हैं, उनके बारे में बतला चुका हूं कि किस तरह दक्षिणपंथी शहरी अपर कास्ट के गठजोड़ से वे दलितों–आदिवासियों और अन्य पिछड़े वर्गों के विरुद्ध जंग छेड़ चुके हैं। कई तरह की जातीय सेनाएं बनी हुई हैं और सुदूर ग्रामीण इलाकों में कोहराम की स्थिति बनी हुई है।

पिछले वर्षों में राजनीति में जाति का सीधा इस्तेमाल दक्षिणपंथियों ने किया। मौजूदा प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने पिछले चुनाव में स्वयं को खुले रूप में पिछड़ा वर्गीय कहा, आधुनिक पेशा चुना भी तो सर्वहारा के अनुकूल– चाय बेचने वाले का बेटा, जो खुद बचपन में चाय बेचता था। इसके पहले लालू प्रसाद खुद को दही बेचने वाली मां का बेटा कहकर राजनीति कर चुके थे। सोशलिस्टों के बाद दक्षिणपंथियों के इस जाति कार्ड पर विचार करने की जरूरत है। उत्तर प्रदेश में भारतीय जनता पार्टी ने इसी जाति कार्ड से समाजवादी पार्टी और बहुजन समाज पार्टी को ध्वस्त कर दिया। आंकड़े बतलाते हैं, यादव रहित अन्य पिछड़े वर्गों के ज्यादातर वोट भाजपा को मिले। बिहार की राजनीति में भी पिछले विधानसभा चुनाव में अति पिछड़े वर्गों के ज्यादातर वोट भाजपा ने प्राप्त किए।

ये प्रवृत्तियां अंततः किस ओर इशारा कर रही हैं? फुले और आंबेडकर ने जिस ब्राह्मणवादी समाज व्यवस्था को चुनौती दी थी, उनकी संततियां अपनी परिपक्वावस्था में ब्राह्मणवादियों की गोद में जा चुकी हैं। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के हिन्दुत्व के साथ कदम ताल कर वे किस तरह की नई दुनिया बनाने जा रहे हैं? ब्राह्मणवाद की आलोचना के बिना किसी ऐसे हिन्दुत्व की विचारधारा नहीं खड़ी हो सकती, जो पिछड़े तबकों की आकांक्षाओं को मूर्त रूप दे सके या

राजनीति और जाति

रजनी कोठारी

...भारत की पारंपरिक समाज–व्यवस्था जाति–संबंधी संरचनाओं और अस्मिताओं के आसपास संगठित है इस तथ्य से शायद ही कोई इनकार करेगा। लेकिन जैसे ही जाति और राजनीति के संबंधों का प्रश्न उभरता है, वैसे ही आधुनिकीकरण के हामी मताग्रही बुद्धिजीवी भारतीय परिस्थिति के प्रति गंभीर द्वेष के शिकार लगने लगते हैं। वे अपनी शुरुआत ही इस सवाल से करते हैं– क्या जातियां विलुप्त हो रही हैं? जाहिर है कोई समाज व्यवस्था इस तरह विलुप्त नहीं होती। शक्ल कैसी बन रही है? दूसरी तरफ राजनीति में जातिवाद का रोना रोने वाले भारतीय बुद्धिजीवी हैं जो दरअसल एक ऐसी राजनीति की चाह से ग्रस्त हैं जिसका समाज में कोई आधार ही नहीं है। संभवतः इन लोगों को न तो राजनीति की प्रकृति की साफ समझ है और न ही वे जाति–प्रथा के बारे में ज्यादा कुछ जानते हैं। इनमें से कई तो राजनीति और जाति–प्रथा दोनों से ही चिढ़ने लगे हैं। वे राजनीति को एक ऐसी स्पर्धात्मक कार्रवाई की तरह नहीं समझते जिसका उद्देश्य कुछ निश्चित लक्ष्यों को बेधने के लिए सत्ता प्राप्त करना होता है। राजनीति गोलबंदी करने और अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए पहले से मौजूद और उभरती हुई निष्ठाओं की शिनाख्त करती है और फिर उनका अपने हक में इस्तेमाल करती है। इसके लिए जरूरी है कि संगठन और उसके समर्थन का आधार सुस्पष्ट हो। खासतौर से जनाधारित राजनीति में जनसमर्थन संगठनों के जरिये व्यक्त होता है और संगठनों के ही झंडे तले विशाल जन समूह गोलबंद किए जाते हैं। इस परिभाषा का सीधा मतलब है कि जिस समाज में जातिगत संरचनाओं के माध्यम से संगठन और गोलबंदी की सुविधा हो और जिस समाज में अधिकांश जन गणजातियों के रूप में ही संगठित हों, राजनीति जाति आधारित गोलबंदी की कोशिश करेगी ही। इस विश्लेशण से साफ हो जाना चाहिए कि 'राजनीति में जातिवाद' की कथित परिघटना असल में 'जाति का राजनीतिकरण' ही है। जाति और राजनीति को एक–दूसरे के नजदीक लाते हुए इस प्रक्रिया ने दोनों के रूपों को बदला है। अपने संगठन के दायरे में लाकर राजनीति ने जाति से अपनी अभिव्यक्ति के लिए सामग्री प्राप्त की है और उसे अपनी योजना के अनुसार ढाला है।

...जाति और राजनीति की आपसी क्रिया के परिणाम वे नहीं होते जो बताए जाते हैं, बल्कि ठीक उसके विपरीत होते हैं। राजनीति जाति से प्रभावित नहीं होती, बल्कि जाति का राजनीतिकरण हो जाता है। यह परिघटना कुछ द्वंद्वात्मक–सी जरूर लगती है, लेकिन यह सच्चाई है कि स्पर्धात्मक राजनीति की गतिविधियों ने जाति को उसके अराजनीतिक संदर्भ से बाहर निकाल लिया है। उसे एक नई हैसियत प्रदान की है। अब तक जिसे हम जाति–प्रथा कहते थे उसका क्षय हो गया है। उसमें विखंडन शुरू हो चुका है। कुछ धीमी गति से यही घटना सामुदायिक और धार्मिक निष्ठाओं के साथ घट रही है। हम इस दलील का उल्लेख पहले भी कर चुके हैं कि चुनाव प्रणाली ने जाति अस्मिताओं को नवजीवन प्रदान कर दिया है। यह सही समझ है, लेकिन इससे आमतौर पर गलत निष्कर्ष निकाल लिया जाता है। दरअसल राजनीति सत्ता के एकमात्र आधार के रूप में जाति की वैधता का क्षय हो जाने के कारण जातीय गणित का महत्व बढ़ गया है। विभिन्न परिस्थितियो में विभिन्न जातियों के संख्या बल, उम्मीदवारों के चुनाव, जातियों की अंदरूनी दलबंदी और जातियों के आर्थिक संबंधों का गणित बदलता रहता है। यह किसी भी राजनीतिक प्रणाली के लिए स्वाभाविक ही है और अन्य तरह के सामाजिक संगठनों और जातीय समूहों पर लागू होता है। समझने की बात तो यह है कि जातीय गणित की उस समय जरूरत नहीं थी जब कुछ जातियों के लोग ही सत्ता के दावेदार थे। जाति अपनी सर्वशक्तिमतत्ता के कारण राजनीति के लिए अप्रासंगिक थी। आज ऐसा नहीं रह गया है। सत्ता के लिए व्यापारिक होड़ में जाति अन्य तत्वों की भांति राजनीति की दुनिया को प्रभावित करने वाला एक तत्व मात्र रह गई है। हेरल्ड ए. के शब्दों में जाति राजनीति की निर्धारक भूमिका से गिरकर उसे प्रभावित करनेवाला एक परवर्ती तत्व बन गई है।

...लोकतांत्रिक प्रक्रिया के परिणामस्वरूप जाति का पुनः प्रकटीकरण होता है, लेकिन इस चक्कर में जाति अपने–आप में परिवर्तित हो जाती है। मैं बेहिचक कहना चाहता हूं कि 'राजनीति में जातिवाद' के जरिये जाति–प्रथा का रूपांतरण मुमकिन है। मैं पहले भी कह चुका हूं कि 'राजनीति में जातिवाद, असल में जातियों के राजनीतिकरण के अलावा और कुछ नहीं है' जिसका परिणाम जातिप्रथा के संरचनागत और विचारधारात्मक रूपांतरण में निकलता है। राजनीति के कारण जाति की सामाजिक संरचना के दायरे में तरह–तरह के गठजोड़ करने पड़ते हैं जिससे इस प्रथा की कठोरता और अनम्यता का उल्लंघन होता है। धर्म–जाति निरपेक्ष राजनीतिक उद्देश्यों से जाति का टूटना और जातियों का आपस में जुड़ना उन्हें विभिन्न पार्टियों के साथ लेन–देन की स्थिति में ले जाता है और राजनीति की मांगों को पूरा करने के लिए जातियों को आवश्कतानुसार उपयुक्त सांगठनिक रूप ग्रहण करने पड़ते हैं। विचारधारात्मक लिहाज से इस प्रक्रिया में जाति श्रेणीगत से बहुलवादी होने के बुनियादी परिवर्तन से गुजरती है। वह दैवी सामाजिक दर्जे की वाहक न रहकर राजनीतिक प्रयास के जरिये हासिल की जानेवाली सत्ता का स्रोत हो जाती है। इस तरह जातिगत भूमिकाएं कर्मकांडीय न रहकर नागरिक और राजनीतिक दायरों में परिभाषित होने लगती है।

(स्रोतः रजनी कोठारी की प्रसिद्ध किताब 'भारतीय राजनीति, कल और आज' के कुछ संपादित अंश)

उन्हें गुलामी से मुक्त कर सके, जिसकी ओर 19वीं सदी में ही जोतिबा फुले ने ध्यान दिलाया था। हिन्दू धर्म के प्रचलित तीज–त्यौहारों, पौराणिक प्रतीकों और दूसरे पाखंडों की फुले के सत्यशोधक समाज या दयानंद सरस्वती के आर्य समाज की तरह आलोचना किए बिना किसी लोकतांत्रिक हिन्दुत्व की कल्पना नहीं की जा सकती। ऐसी किसी आलोचना का कोई विचार संघ के एजेंडे में नहीं है। इसलिए कहा जाना चाहिए कि संघ एक नए ब्राह्मणवाद पर होशियारी से काम कर रहा है, जिसमें जात–पात खत्म करने, छुआछूत खत्म करने और दलित–पिछड़ों को हिन्दू तीज–त्यौहारों और धर्म स्थलों से जोड़ने की तो कवायद जरूर है, क्योंकि इससे दलित–पिछड़े हिन्दुत्व के ब्राह्मणवादी सामाजिक–साम्राज्य के हिस्सा बनते हैं, नए सांस्कृतिक उपनिवेश बनते हैं, लेकिन इसमें उनकी वास्तविक मुक्ति का कोई संकल्प नहीं है। ऐसे में संघ का हिन्दुत्व दलित–पिछड़ी जातियों के लिए सांस्कृतिक गुलामी का एक नया पाठ बन जाने वाला है।

समाजवादी और साम्यवादी ताकतों की प्रासंगिकता निरंतर क्षीण हो रही है। वोल्शेविक क्रांति काल और फिर शीत युद्ध काल के वैचारिक उपकरण और सोच के तरीके पुराने हो चुके। दुनिया भी बदल चुकी है और भारत भी बदल चुका है। अपने विमर्श में समाजवादी और साम्यवादी राजनीति का एक 'अपर कास्ट' पाठ ही तैयार कर सके हैं, जिसकी चर्चा मैंने पहले की है। निश्चित ही उनके पास एक विश्वदृष्टि है और लोकतंत्र की वैज्ञानिक व्याख्या है, लेकिन संघ की चुनौतियों को वे उस अंदाज और गहराई में क्यों नहीं समझ पाते, जिस अंदाज में फुले–आंबेडकरवादी समझते हैं। ब्राह्मणवाद की चुनौतियों को स्वीकार किए बिना, उससे संघर्ष किए बिना, आज हम किसी समाजवादी–साम्यवादी सोच के विस्तार की बात शायद नहीं कर सकते। 1990 में पिछड़े तबकों के लिए मंडल कमीशन की सिफारिशों के एक हिस्से को लागू करने की घोषणा की गई और राम जन्मभूमि का विवाद सड़कों पर आया तब भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने सांस्कृतिक सवालों पर विमर्श करना तय किया। उनका पहला निर्णय यह हुआ कि कम्युनिस्ट पार्टी के दफ्तरों में विवेकानंद की तस्वीरें भी लगाई जाएं। यह किसकी सफलता थी? क्या यह संघ के ही विचारों का कम्युनिस्ट पार्टियों तक विस्तार नहीं था? मैं नहीं कहता कि विवेकानंद का संघ से कोई जुड़ाव था, लेकिन यह जरूर कहूंगा कि उनके विचार संघ की ही मदद कर रहे हैं। विवेकानंद पर विस्तार से अध्ययन हुए हैं, उनके विचार 'अपर कास्ट' के दक्षिणपंथी हिस्से– राष्ट्र व्याकुल हिस्से – की ही मदद करते हैं। उन पर यदि भारत की कम्युनिस्ट पार्टियों के साथियों का ध्यान जाता है, तब उन्हें पहले आत्ममंथन करने की कोशिश करनी होगी कि उनमें स्वयं किस मात्रा में दक्षिणपंथ मौजूद है। कम्युनिस्टों को जोतिबा फुले और आंबेडकर के विचारों ने क्यों नहीं आकर्षित किया, उनसे संगत बनाने की इन्होंने क्यों नहीं सोची, तस्वीरें ही यदि लगनी थी तो कम्युनिस्ट पार्टी के दफ्तर में आंबेडकर की तस्वीर क्यों नहीं लगी– ये सब ऐसे प्रश्न हैं जिनपर कम्युनिस्टों को भी विचार करना होगा। समाजवादियों के बीच से अपने आखिरी दिनों में मधु लिमये ने आंबेडकर के विचारों पर गहराई से विचार किया। 1980 से कुछ पूर्व ही भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के नेता श्रीनिवास सरदेसाई ने अपनी किताब "भारतीय दर्शन : वैचारिक और सामाजिक संघर्ष" में इन सवालों पर विस्तार से विचार किया है। इन विचारों पर नई परिस्थितियों में विमर्श करने की जरूरत है।

राजनीति में जाति के सवालों को नकार देने से काम नहीं चलेगा। यह बात तय है कि जाति की अवस्थिति को लेकर कोई आधुनिक लोकतांत्रिक समाज या राष्ट्र नहीं बन सकता। लेकिन हमें यह भी देखना होगा कि क्या हम किसी नए जातिवाद को जाने–अनजाने प्रश्रय तो नहीं दे रहे हैं। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है गांवों से आए द्विज शहरियों ने अपने जानते तो अपनी जाति समाप्त कर ली किंतु उससे भी शक्तिशाली एक नई जाति 'अपर कास्ट' का हिस्सा बन गए। इसी क्रम में दलितों और पिछड़े वर्गों की भी नई जातियां बन सकती हैं। लेकिन वह क्या होगा? क्या यह जाति की वर्ण जैसी किसी संस्था में वापसी जैसी ही बात नहीं होगी? इसके खतरों पर भी विचार किया जाना चाहिए।

जाति और राजनीति के अंतर्संबंधों पर आज भी विचार करने की आवश्यकता है। मार्क्सवादी, समाजवादी और फुले–आंबेडकरवादी साथी मिलजुलकर एक पाठ तैयार कर सकते हैं। मिहनतकश किसान, दस्तकार और मजदूर तबके या फिर आधुनिक रोजगारों से जुड़े दलित–पिछड़े वर्गों के लोग वर्चस्व की राजनीति का प्रतिकार करते हैं। वे जातिमुक्त होना भी चाहते हैं, क्योंकि इस आधार पर कोई सम्मान उन्हें नहीं मिलता। सरकारी नौकरियों में आरक्षण के अवसर ने दलित–पिछड़ी जातियों को अपने तरीके से कुछ बल दिया था। लेकिन यह दौर भी समाप्त हो रहा है। नौकरियों के अवसर समाप्त हो रहे हैं, इसलिए इसकी प्रासंगिकता समाप्त हो रही है। असली सवाल है वर्चस्व की राजनीति का प्रतिकार। दलित–पिछड़े जाति–समूह यह प्रतिकार पूरी ताकत से कर सकेंगे ऐसी उम्मीद बन रही है। अंतिम लक्ष्य है एक लोकतांत्रिक, समतामूलक, सेकुलर समाज और राष्ट्र का निर्माण जो वैज्ञानिक परिदृष्टि से युक्त हो, भविष्णु हो।

इसके लिए मार्क्सवादियों और फुले–आंबेडकरवादियों को एक मंच पर आना होगा। जाति के सवाल को अनदेखा करने से काम नहीं चलेगा। जाति की राजनीति नित नए रूप ग्रहण कर रही है। जातिवाद और उसके भेद का विरोध करने वाले समाजवादियों ने सत्ता में आने के बाद एक नए किस्म का जातिवाद शुरू किया। दलितों और पिछड़ों का एक तबका आरक्षण के आर्कीडिया से अब निकालना नहीं चाहता। दूसरे आर्थिक–सामाजिक सवाल उसकी नजर में आ ही नहीं रहे। विकास की राजनीति ने सामाजिक न्याय की राजनीति को लगभग अप्रासंगिक बना दिया है। तू डाल–डाल, हम पात–पात की लड़ाई चल रही है। सबसे अचरज की बात है कि जातियों के चुनावी जोड़–तोड़ की कलाबाजी, जिसे कुछ लोग सोशल इंजीनीयरिंग कहते हैं, के सबसे बड़े आचार्य आज भारतीय जनता पार्टी के अध्यक्ष अमित शाह बन गए हैं, जो शायद पहले सट्टा बाजार से जुड़े थे। ❐

प्रतिनिधित्व केवल नंबर नहीं

अनिल चमड़िया

सामाजिक न्याय के बैनर तले आयोजित होने वाले सैकड़ों कार्यक्रमों में शिरकत करता रहा हूं। इस तरह के आयोजन अक्सर शहरों, कस्बों, जिला मुख्यालयों एवं उच्च शिक्षण संस्थानों में होते हैं। उनका बैनर सामाजिक न्याय का होता है, लेकिन बातचीत केन्द्र, राज्य की नौकरियों, विश्वविद्यालय में शिक्षकों के पदों और सरकारी विभागों में शीर्ष पदों और उसके बाद उच्च शिक्षण संस्थानों में सरकार की सूची में दर्ज पिछड़ी जातियों, अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों के छात्र–छात्राओं के दाखिले में आरक्षण नियमों की अवहेलना किए जाने तक सिमट जाती है। पहले दौर की बातचीत में मैं अक्सर पाता था कि नौकरियों और दाखिले में प्रतिनिधित्व के आंकड़े से बात शुरू होती थी। बाद में यह बातचीत ऊंचे पदों पर प्रतिनिधित्व को लेकर भी होने लगी। प्रतिनिधित्व के लिए आरक्षण की बात जब शुरू होती है तो वह मीडिया, न्यायापालिका में भी पिछड़ों, दलितों, आदिवासियों के प्रतिनिधित्व के अभाव तक पहुंच जाती है, क्योंकि शिक्षण संस्थानों में आरक्षण के मसले को मीडिया द्वारा नहीं उठाने की शिकायत और न्यायापालिका द्वारा ऐसी शिकायतों को लेकर दृढता का अभाव दिखता रहा है। मीडिया और न्यायापालिका की आरक्षण विरोधी मानसिकता से निपटने के लिए इन संस्थानों में आरक्षण पर जोर दिया जाता है।

इस पूरे परिप्रेक्ष्य में सामाजिक न्याय की पूरी अवधारणा को आरक्षण तक ही सीमित कर दिया जाता है। इस तरह के विमर्शों में समाजिक न्याय की जरूरत पर बल देने के लिए जो सामग्री होती है वह ग्रामीण क्षेत्रों या दूरदराज के इलाकों में घटी घटनाएं और जुल्म, दमन की कहानियां होती हैं। कुछ इतिहास की सामग्री होती है। सरकार के सभी संस्थानों में पर्याप्त प्रतिनिधित्व यानी 50 प्रतिशत तक आरक्षण सुनिश्चित हो जाता है तो क्या उसे सामाजिक न्याय के उद्देश्य के पूरा होने के अर्थ में स्वीकार कर लेना चाहिए? यह ध्यान देने की जरूरत है कि सरकारी नौकरियों में आरक्षण केवल नौकरी पाने के उद्देश्य से नहीं जुड़ा है। बल्कि यहां उनका प्रतिनिधित्व समाज के उस समूह के बीच एक ऐसा संदेश है जो समाज के उस हिस्से को एक नई ऊर्जा देता है। समाज का वह हिस्सा जिसके कान में रांगा गलाकर पिघला देने की परिपार्टी रही है? उसे यह संदेश भरोसा देता है जिसे सामाजिक व्यवस्थाओं ने सदियों से कुचल कर रखा है। प्रतिनिधित्व एक ऐसी प्रतिस्पर्धा की भावना सृजित करता है जो आने वाली पीढ़ियों के लिए प्रेरणा का काम करता है। एक जड़ता को तोड़ता है जो सदियों से पहाड़ से भी बड़े और भारी वजन से दबा रहा है।

35 वर्षों से जनपक्षधर पत्रकारिता। संप्रति 'मास मीडिया' और 'जन मीडिया' नामक अंग्रेजी और हिन्दी मासिक का संपादन।

आरक्षण, व्यवस्था को उस व्यवस्था में तब्दील करने में क्या सहायक हो सकता है, जिससे कि समूहों के वंचित होने के सामाजिक–आर्थिक आधार को खत्म किया जा सके? इन दोनों प्रश्नों पर विचार करने के लिए हमें देश में उपलब्ध सरकारी नौकरियों और शिक्षण संस्थानों में दाखिले के वक्त निर्धारित आरक्षित संख्या पर नजर डालनी चाहिए। आंकड़े इस विचार को स्थापित करते हैं कि सरकारी नौकरियों की संख्या और शिक्षण संस्थानों में दाखिले के लिए निर्धारित सीटों के शत–प्रतिशत भरने के बावजूद बहुसंख्यक समूह की नौकरियों व शिक्षा की जरूरतों को पूरा नहीं कर सकती। इस संदर्भ में दो तरह के प्रश्न खड़े होते हैं। पहला प्रश्न तो यह है कि क्या हम आरक्षित सीटों पर भर्ती पूरी करने के लिए संघर्ष करना चाहते हैं जिन वजहों के कारण नौकरियों में निर्धारित आरक्षित सीटों की संख्या नहीं भरी जा रही हैं और शिक्षण संस्थानों में दाखिले के वक्त भेदभाव होता है। जातीय पूर्वाग्रहों से आरक्षित वर्ग के शिक्षार्थियों को उस स्थिति में भी आरक्षित श्रेणी में डाल दिया जाता है जबकि वह गैर आरक्षित श्रेणी में दाखिले के लिए निर्धारित मानदंडो को पूरा करते हैं। गैर आरक्षित श्रेणी को सवर्ण श्रेणी में तब्दील कर दिये जाने का प्रचलन बढ़ा है। यह जातीय पूर्वाग्रह संस्थागत रूप में आज भी कायम है। इसकी तस्दीक पिछले दिनों देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में शिक्षकों के विभिन्न पदों पर बहाली के लिए एक साथ निकाले गए विज्ञापनों से भी की जा सकती है।

ये विज्ञापन उस स्थिति में तत्काल निकाले गए जिसमें विश्वविद्यालयों को तकनीकि तौर पर यह छूट मिलते दिखाई दी कि इन भर्तियों को आरक्षण के बगैर भी भरा जा सकता है। यानी इस संस्थानों ने लंबे समय तक इन पदों पर भर्तियां रोक रखी थीं, क्योंकि इसमें उन्हें आरक्षण की संवैधानिक व्यवस्था को लागू करने का दायित्व था। पदों पर आरक्षण से वंचित रखने के लिए भर्तियां नहीं करना यह ठीक उसी मानसिकता को जाहिर करता है जिस मानसिकता के तहत अनुसूचित जाति व जनजाति के हितों के लिए निर्धारित बजट पूरे वित्तीय वर्ष में खर्च करने में विभाग अपनी अक्षमता पिछले सत्तर वर्षों से प्रदर्शित करते आ रहे हैं। यह उस मानसिकता का ही दूसरा रूप है जब शिक्षण संस्थानों में दाखिले के दौरान पिछड़ों के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गई और सरकार ने इसके लिए शिक्षण संस्थानों को काफी घनराशि मुहैया कराई कि वे अपना ढांचागत विस्तार कर सकें, लेकिन उस बजट का अधिकतर हिस्सा बुनियादी ढांचागत विस्तार में नहीं खर्च किया गया। इन दोनों स्थितियों के खिलाफ संघर्ष की जरूरत है। लेकिन क्या यह आरक्षण की लड़ाई के लिए भी पर्याप्त है?

एक तरफ सरकारी नौकरियां लगातार कम होती जा रही हैं। नौकरियों के कम होने के कई आंकड़े आये हैं। इससे जुड़ी दूसरी बात यह भी है कि नौकरियों में स्थायी नियुक्ति के बजाय ठेके पर नियुक्ति, तदर्थ नियुक्ति यानी गैर स्थायी भर्तियां हो रही हं। नौकरियों में जो स्थाई भर्ती की जा रही है उनमें उन सुविधाओं व अधिकारों में कटौती की जा रही है जो कि पूर्व में स्थाई नौकरियों के दौरान उपलब्ध थी। मसलन पेंशन की व्यवस्था आदि। नई भर्तियों के साथ पेंशन की व्यवस्था खत्म कर दी गई है। तीसरी बात यह कि निजी क्षेत्र के उच्च शिक्षण संस्थानों का तेजी से विस्तार हो रहा है। आधुनिक तकनीकी सुविधाओं से लैश शिक्षा छावनियां (contentment) तैयार हो रही हैं। जिसमें बहुंसख्यक समूह के शिक्षार्थियों का प्रवेश निषेध है। उनकी आर्थिक हैसियत उन छावनियों के अनूकुल नहीं है और इन निजी संस्थानों की सांस्कृतिक छवि के भी वे अनुकूल होने की प्रक्रिया से बाहर हैं। अंतिम बात यह कि इन निजी संस्थानों में आरक्षण की व्यवस्था नहीं है।

इस संदर्भ में यह समझना जरूरी है कि आरक्षण केवल प्रतिनिधित्व नहीं है।इसके साथ यह भी कि प्रतिनिधित्व केवल सरकारी नौकरियों में संख्या नहीं है। प्रतिनिधित्व Content (विषय वस्तु) भी है। यानी एक विषय वस्तु है। लेकिन हम सामाजिक न्याय के बैनर के तले केवल आरक्षण की बात करते हैं और वह केवल शिक्षण संस्थानों से प्राप्त डिग्रियों के आधार पर नौकरियों में आरक्षण की व्यवस्था के एक संदर्भ के रूप में आता है। इस तरह बहुजन समाज की बौद्धिक ऊर्जा बेहद सीमित दायरे तक ही लक्षित होती रही है।

जब कभी भी सामाजिक न्याय के संदर्भ में जिस किसी भी प्रदेश की सरकार ने आरक्षण लागू करने का फैसला लिया है, तब–तब उन प्रदेशों में या तो साम्प्रदायिक हमले करवाये गए हैं या वहां की चुनी गई सरकारों को गिराया गया है। अमर सिंह चौधरी के कार्यकाल में गुजरात से लेकर 1978 में बिहार और उत्तर प्रदेश के उदाहरणों से इसे समझा जा सकता है। 1991 में जब केन्द्र सरकार ने सरकारी नौकरियों में पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण की व्यवस्था लागू करने का फैसला किया तो केन्द्र सरकार के फैसले के खिलाफ भारतीय जनता पार्टी के नेता लाल कृष्ण आडवाणी ने राम रथयात्रा निकालने का ऐलान किया और वे अयोध्या में राम मंदिर बनाने के लिए अपनी रथ यात्रा लेकर निकल पड़े। इस तरह सामाजिक न्याय के संदर्भ से जुड़ा आरक्षण का विरोध राम मंदिर और हिन्दुत्व के माध्यम से किया गया।

सामाजिक न्याय समानता के दर्शन का एक भारतीय संस्करण है। यानी मूल रूप से समानता की विचारधारा से उसका रिश्ता बनता है। लेकिन देश में बहुसंख्यक यानी हिन्दुत्व की साम्प्रदायिकता समानता की दिशा में लिए जाने वाले किसी भी फैसले के विरोध में खड़ी होती है। कृषि प्रधान देश में भूमि सुधार का विरोध एक उदाहरण है। आर्थिक और सामाजिक असमानता को दूर करने के प्रयास साम्प्रदायिक राजनीति को स्वीकार नहीं होते हैं। सामाजिक न्याय को साम्प्रदायिकता से प्रभावित करने की कोशिश की जाती है। सामाजिक न्याय दुनिया भर में समानता के लिए होने वाले संघर्षों से ऊपजी एक नई चेतना है और उस चेतना को धर्म जैसी पुरानी संस्थाओं के बहाने रौंदने के लिए साम्प्रदायिक अवधारणा विकसित की जाती है। एक ऐसी उग्रता विकसित करने की कोशिश होती है ताकि नई और ताजी ऊर्जा फलने–फूलने से भी वंचित रह जाए।

सूत्र रूप में कहा जा सकता है कि राजनीति का समाजीकरण सामाजिक न्याय की स्थितियों को तैयार करता है और राजनीति का साम्प्रदायीकरण वर्चस्व की स्थिति को बनाए रखने में सहायक होता है। भारतीय संदर्भ में यह वर्चस्व सामाजिक और आर्थिक दोनों स्तरों पर कायम होता है। इसे समझने के लिए यह एक दिलचस्प उदाहरण है। 1991 में जब केन्द्र सरकार ने सरकारी नौकरियों में बिंदेश्वरी प्रसाद मंडल आयोग (1978 जनता पार्टी की सरकार द्वारा गठित) की अनुंशसाओं में एक आरक्षण को लागू करने का फैसला किया तब उसके साथ एक और प्रक्रिया चली। वह प्रकिया निजीकरण की थी। निजीकरण का अर्थ है सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा संचालित क्षेत्रों व विषयों में निजीकरण की इजाजत। इन क्षेत्रों व विषयों में शिक्षा और रोजगार देने वाले दूसरे अन्य क्षेत्र हैं–बैंकिग, बीमा, आदि । ऐसे बहुत सारे क्षेत्रों के नामों का उल्लेख यहां किया जा सकता है। निजी क्षेत्रों के विश्वविद्यालयों व दूसरे शिक्षण संस्थानों का ही

तब से विस्तार नहीं हुआ है बल्कि सरकारी शिक्षण संस्थानों में भी कई स्तरों पर निजी कंपनियों व समूहों की दखलंदाजी बढ़ी है। जब निजी क्षेत्र का विस्तार हुआ तो सरकारी संस्थानों के खुलने और उनके तेज गति से विस्तार को विराम लग गया। शिक्षा के क्षेत्र भी इसका अपवाद न रहा। साम्प्रदायिकता और निजीकरण से सामाजिक और आर्थिक स्तर पर असमानता बनाए रखने वाली एक व्यवस्था अस्तित्व में आई। जब निजी क्षेत्र का तेजी से विस्तार होने लगा तो यह मांग की जाने लगी कि निजी क्षेत्र में भी आरक्षण की व्यवस्था होनी चाहिए। उन लोगों ने खासतौर से मांग की जो निजीकरण के भी पक्षधर थे और बहुजनों के शुभचिंतक होने का भी दावा करते थे।

निजी क्षेत्र में आरक्षण की मांग दरअसल निजी क्षेत्र को एक सामाजिक आधार मुहैय्या कराना था। अर्थात निजी क्षेत्र के विस्तार का विरोध वह शक्तियां नहीं करें जो कि बहुसंख्यक समूह हैं और आरक्षण की श्रेणी में आते हैं। यही बात साम्प्रदायिक राजनीति के संदर्भ में भी देखें। वह भी अपने लिए धर्म के आधार पर अपना सामाजिक आधार बनाए रखने की कोशिश करती है। रथयात्रा से आगे निकलकर सोशल इंजीनियरिंग की रेस में वह खड़ी है। सोशल इंजीनियरिंग का मतलब उन जातियों का साम्प्रदायिक राजनीति में प्रतिनिधित्व व पदोन्नति है जिन जातियों को सामाजिक स्तर पर नीचा माना गया और हिन्दुत्व की अवधारणा में जिन्हें नेतृत्व के काबिल नहीं समझा गया। यह साम्प्रदायिक राजनीति निजीकरण को तेज गति से विस्तार करने के पक्ष में रही है और रक्षा जैसे क्षेत्रों में भी निजीकरण की इजाजत देने की पक्षधर है। इस तरह सामाजिक न्याय को केवल आरक्षण तक सीमित कर देने से उन तमाम स्थितियों को समझने में बाधा होती है जो कि अंततः आरक्षण की व्यवस्था को ही समाप्त करने पर आमादा हैं।

इसे इस मिथक के अर्थ में भी समझा जा सकता है कि द्रोणाचार्य ने एकलब्य का अंगूठा गुरु दक्षिणा में मांग लिया, क्योंकि उसने उस व्यवस्था में शिक्षा ग्रहण कर ली जिस व्यवस्था में एक अछूत यानी शूद्र को शस्त्र चलाने की शिक्षा प्राप्त करना गैरकानूनी था। अंगूठा दक्षिणा में मांग लेने का अर्थ यह हुआ कि अछूत शिक्षा हासिल करके भी उसका उपयोग नहीं कर सकता। यह भी कि अंगूठा मांग लेने से अछूत शिक्षा ग्रहण करने की हिम्मत नहीं करेंगे। आज का द्रोणाचार्य कौन है और अंगूठे कितने रूपों में काटे जा रहे हैं इसका मर्म जब तक हम नहीं समझेंगे द्रोणाचार्य की मानसिकता नित्य नए रूपों में बिना मांगे ही एकलव्यों को उसके अंगूठों से वंचित करती रहेगी।

आरक्षण के संघर्ष के सामाजिक आधार पर भी विचार करने की जरूरत है। क्योंकि इसका नाभिनाल सामाजिक न्याय से जुड़ा है। इसका अर्थ है कि वह उन तमाम संघर्षों से जुड़ा है जो सामाजिक न्याय की व्यवस्था को निर्मित करने से जुड़े हैं। एक किसान को आरक्षण के पक्ष में क्यों भाग लेना चाहिए? एक मजदूर को क्यों इसके पक्ष में लड़ना चाहिए? मछुआरों को क्यों भाग लेना चाहिए ? इस तरह तमाम तबकों और समुदायों के बारे में सोचा जा सकता है कि आरक्षण से उनकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति में क्या फर्क पड़ सकता है। आरक्षण का मसला केवल शिक्षित होने और शिक्षित समूह तक सीमित न रहे। आरक्षण से यह लगे कि किसान, मजदूर और दूसरे तमाम तबकों को उनकी आर्थिक, सामाजिक हालात को बदलने में मदद मिलेगी तभी वह उससे जुड़ाव महसूस करेंगे। सारे किसान, मजदूरों के परिवार के सदस्य शिक्षण संस्थानों तक नहीं पहुंचते हैं। उसका एक छोटा–सा हिस्सा ही शिक्षण संस्थानों तक पहुंचता है। आरक्षण शिक्षित वर्ग का सामाजिक न्याय है तो आदिवासी का सामाजिक न्याय अपनी जमीन और उसपर अपनी आर्थिक निर्भरता के विकास से जुड़ा है। किसी भी संघर्ष की यह मूल कार्य नीति होती है कि वह एक–दूसरे संघर्ष से जुड़कर अपने संघर्ष के लिए ऊर्जा ग्रहण करे। वर्षों से आरक्षण की संवैधानिक व्यवस्था लागू होने के बावजूद शिक्षण संस्थानों व रोजगार में आरक्षण लागू नहीं होने और वहां आरक्षण का संघर्ष लगातार कमजोर होने की मुख्य वजह वर्चस्व प्राप्त लोगों का दुराग्रह रहा है। आरक्षण की व्यवस्था के साथ शिक्षण संस्थान, न्यायालय और मीडिया लगातार मनमानी करते रहे हैं। क्योंकि इन संस्थानों पर प्रभुत्व वर्चस्व प्राप्त जातियों का ही रहा है।

जिन लोगों को सामाजिक न्याय के संघर्षों से हासिल आरक्षण का लाभ मिलता है, उन पर सामाजिक न्याय के पक्ष में खड़ा होने का दबाव नहीं होता है। यह पक्षधरता सामाजिक न्याय के विभिन्न संघर्षों से सरोकार और हिस्सेदारी से ही संभव हो सकती है। लेकिन शिक्षण संस्थानों में संघर्ष सामाजिक न्याय के बजाय आरक्षण तक सीमित होता चला गया है। जाहिर है कि ऐसी स्थिति में वह हिस्सा भी तैयार होगा जिसकी तैयारी राष्ट्रीय स्वंय सेवक संघ के प्रमुख मोहन भागवत ने शुरू कर दी है। उन्होने कहा कि आरक्षण खत्म करने का फैसला आरक्षण का लाभ लेने वाले ही करेंगे। पहले संघ ने आरक्षण का विरोध किया था। बाद में उसकी समीक्षा करने पर जोर दिया और अब आरक्षण का लाभ जिन्हें मिलना चाहिए उनसे ही आरक्षण की व्यवस्था के खत्म होने की वकालत करवाने की तैयारी में लग गए हैं। जैसे वर्ण व्यवस्था में शूद्र मानी जाने वाली जातियों में से वह एक समूह तैयार कर लिया गया है जो हिन्दुत्व की अवधारणा का पक्षधर है। अल्पमत की सबसे बड़ी कामयाबी यही होती है कि वह बहुमत के दिमाग में अपने जैसा होने की भूख (संस्कृति) पैदा कर दे।

❐

जब तक 'हिन्दुस्तान' रहेगा 'दलित' भी रहेगा

कंवल भारती

'इंडियन एक्सप्रेस' (6 सितम्बर 2018) में सूरज येंगड़े का लेख 'हमें दलित शब्द की जरूरत क्यों?' (Why we need Dalit) और के. सत्यनारायण का लेख 'तुम हमें बताओगे कि मैं कौन हूं (Will you tell me who I am) दलित जातियों के प्रति न्यायालय और सरकार की एक जबरदस्त नकारात्मक सोच का पर्दाफाश करते हैं। हालांकि दलित विमर्श 'अछूत से दलित' का क्रांतिकारी सफर तय करने के बाद बुद्ध, फुले और आंबेडकर के 'बहुजन' मार्ग पर अग्रसर है, परंतु जिस तरह सरकार ने दलित की जगह अनुसूचित जाति कहे जाने का तुगलकी फरमान सुनाया है, उसका विरोध पूरे देश की दलित जनता कर रही है। के. सत्यनारायण ने ठीक ही संकेत किया है कि दलित शब्द पर प्रतिबंध लगाना नामकरण का साधारण मुद्दा नहीं है, बल्कि यह एक राष्ट्र और एक अस्मिता के निर्माण का विशाल एजेंडा है। निश्चित रूप से यह आरएसएस (संघ) का हिन्दू एजेंडा है, जिसमें वर्णव्यवस्था के अनुसार हिन्दू राष्ट्र के निर्माण का लक्ष्य निहित है। अगर संघ पुष्यमित्र सुंग के 'स्वर्ण' अर्थात 'सवर्ण' युग को पुनर्स्थापित करने की दिशा में जा रहा है, तो क्या हम उस खतरनाक युग में वापस आ रहे हैं, जिसमें नाम, धाम, गाम और काम से एक विशाल आबादी की 'अछूत' पहचान बनाई गई थी? अगर सरकारें और अदालतें संघ का हिन्दू एजेंडा इसी तरह लागू करती रहीं, तो संभव है कि ब्राह्मण, ठाकुर और बनियों की तरह दलितों को अपनी पहचान के लिए कोई खास चिह्न धारण करके चलने का फरमान भी कभी सुनने को मिल जाए। यह चिह्न मोर, कबूतर और कौवा का पंख भी हो सकता है, और कोई कोड ड्रेस भी।

इधर आरएसएस पहले से और कट्टर हुआ है। कबीर से लेकर आंबेडकर तक सारे दलित नायकों को हिन्दू रंग में रंगने के उसके सारे प्रयास और समरसता–कार्यक्रम भी, भारत के दलित चिंतन और साहित्य के आंदोलन पर रत्तीभर प्रभाव नहीं डाल सके। वह न वर्णव्यवस्था, जातिभेद और हिन्दूधर्म के खिलाफ दलित विमर्श की धारा को मोड़ सका, और न दलितों को हिन्दू राष्ट्रवाद से जोड़ सका। इसके विपरीत, कोरे गांव आंदोलन ने उसकी चिंता को और भी बढ़ा दिया, बल्कि इस दलित आस्था ने अयोध्या की हिन्दू आस्था के लिए खतरे की घंटी बजा दी। संघ की एक 'दलित आंदोलन पत्रिका' थी, जो अब शायद बंद हो गई है, क्योंकि दलित शब्द का प्रयोग उसके लिए भी वर्जित है। इससे स्पष्ट पता चलता है कि इस नामकरण के पीछे खुले तौर पर संघ है, वरना 'दलित आंदोलन पत्रिका' महीनों पहले बंद नहीं होती। संघ का इरादा दलित शब्द पर रोक लगाकर दलित साहित्य को रोकना है। क्योंकि दलित साहित्य हिन्दूधर्म की वर्णव्यवस्था के विरुद्ध आक्रोश और प्रतिरोध का साहित्य है। दलित साहित्य भारत का एकमात्र साहित्य है, जो स्वतन्त्रता, समानता और बंधुता के लिए अलख जगाकर हिन्दूधर्म के मूल पर कुठाराघात करता है। जो हिन्दूधर्म के ग्रंथों, मिथकों, देवी–देवताओं और नायकों का पुनर्पाठ करता है, और उन्हें खारिज करता है। यही वह साहित्य है, जो बुद्ध, चार्वाक, कबीर, रैदास, ज्योतिराव फुले, सावित्री बाई फुले, स्वामी अछूतानन्द और डा. आंबेडकर के मौलिक विचारों की ज्योति को जलाए रखता है। कहना न होगा कि यह आरएसएस के हिन्दू राष्ट्र की योजना के लिए खतरनाक साहित्य है। इसलिए हिन्दू पुलिस दलित लेखकों के घरों में डा. आंबेडकर और ज्योतिराव फुले की तस्वीरों तथा किताबों को भी देश के लिए खतरा समझती है।

दलित शब्द किसी एक जाति के लिए या किसी विशेष जाति के लिए प्रयुक्त नहीं होता है, बल्कि यह समस्त अछूत जातियों के लिए एक वर्ग का निर्माण करता है। सूरज येंगड़े के अनुसार, डा. बाबासाहेब आंबेडकर ने 1922 में ही मराठी में 'दलित और पददलित' शब्दों का प्रयोग किया था, और अंग्रेजी में वे दलित वर्ग के लिए डिप्रेस्ड क्लासेज का प्रयोग करते थे, जिसका अनुवाद दलित वर्ग ही होता है। इसलिए दलित विमर्श, दलित साहित्य और दलित राजनीति के केंद्र में कोई एक अछूत जाति नहीं, बल्कि सभी अछूत जातियां आती हैं। आरएसएस के हिन्दू मन को दलित शब्द की यही वर्गीय चेतना खतरे की घंटी है, क्योंकि दलित साहित्य की वैचारिक ऊर्जा भविष्य में उन दलित जातियों को भी जागरूक कर सकती है, जो आज अज्ञानता के अंधे कुएं में हैं और आरएसएस के हिन्दू फोल्ड में हैं। उनके जागरूक होने का अर्थ है, हिन्दू राष्ट्र के महल का भर भराकर ढह जाना, क्योंकि हिन्दू राष्ट्र का मतलब है वर्णव्यवस्था का शासन, जिसमें द्विजों का राज और दलित–पिछड़ों की दासता है। दलित साहित्य इसी दासता का बोध कराता है, और जो भी दलित जाति अपनी दासता को अनुभव कर लेती है, उसका विद्रोही हो जाना लाजमी है। अभी आरएसएस के लिए एक सुभीता है कि उसके हिन्दू राष्ट्र के एजेंडे में कुछ निर्लज्ज दलित नेता सहायक बने हुए हैं, पर वह जानता है कि यह देर तक चलने वाला नहीं है। दलित साहित्य और दलित विमर्श की मार को यह निर्लज्ज वर्ग भी लम्बे समय तक नहीं झेल पाएगा, और तब उसके सामने दो ही विकल्प होंगे– या तो वह अपनी भूमिका बदल लेगा, या समाप्त हो जाएगा। आरएसएस उसी दिन के लिए चिंतित है।

इसलिए उसने 'न रहेगा बांस और न बजेगी बांसुरी' की चाल चली और सुनियोजित तरीके से दलित शब्द के प्रयोग पर रोक लगाने की एडवाइजरी जारी करवा दी। सामने से यह एडवाइजरी केंद्र और राज्य सरकारों को जारी करने का निर्देश मुंबई और मध्य प्रदेश के उच्च न्यायालयों ने दिया है, लगता है, जिसका आधार यह लिया गया है कि दलित शब्द भारत के संविधान अथवा किसी भी अन्य कानून में कहीं नहीं मिलता है। अवश्य ही सब कुछ तयशुदा है। संविधान में हिन्दुस्तान शब्द को भी मान्यता नहीं दी गई है? काउंटर में यह सवाल क्यों नहीं उठाया गया? फिर, हिन्दुस्तान क्यों प्रचलित है, जबकि संविधान में भारत और इंडिया शब्दों को मान्यता दी गई है?

जाति गणना विमर्श से उभरते सवाल

तथागत मंडल

केंद्रीय गृह मंत्री राजनाथ सिंह ने 31 अगस्त, 2018 को एक बयान में कहा कि 2021 की जनगणना में ओबीसी की गिनती की जाएगी। सरकार ने अभी स्पष्ट नहीं किया है कि इसमें कौन से आंकड़े जुटाये जाएंगे। फिलहाल हम सरकार की इस घोषणा का स्वागत करते हैं कि उसे सीमित दायरे में ही सही जाति के साथ जनगणना कराने में परहेज नहीं है। लेकिन केन्द्र सरकार की यह घोषणा कई सवालों को खड़ा करती है मसलन केवल ओबीसी की जनगणना क्यों, मुकम्मल जाति जनगणना क्यों नहीं? पिछली मनमोहन सिंह सरकार ने जो जाति जनगणना करवायी थी उसके आंकड़े अभी तक नहीं प्रकाशित किये गए हैं और बिना पिछली जनगणना के आंकड़ों का प्रकाशन किए सरकार अगली जनगणना के साथ सिर्फ ओबीसी जाति जोड़ने की बात कर रही है।

केन्द्र सरकार में शामिल दलों को छोड़कर देशभर के लगभग सभी राजनीतिक दलों द्वारा एक स्वर से जाति जनगणना, 2011 की पूरी रिपोर्ट को जारी करने की मांग किये जाने पर 16 जुलाई, 2015 को केन्द्र सरकार ने कैबिनेट की बैठक में निर्णय लिया था कि जाति जनगणना के आंकड़ों को जारी किया जाएगा, किन्तु ऐसा करने के पहले जातियों, उपजातियों, गोत्रों, वंशों, उपनामों आदि जिनकी कुल संख्या रिपोर्ट में लगभग 46 लाख है, को जातियों में समाहित किया जायेगा। वरिष्ठ मंत्री अरुण जेटली ने प्रेस सम्मेलन में जाटों की दो उप जातियों, मलिक और सोलंकी, का उदाहरण दिया. इसके लिए विशेषज्ञों की एक कमिटी 'नीति आयोग' के उपाध्यक्ष की अध्यक्षता में बनाने का फैसला भी लिया गया था। किन्तु साफ पता चलता है कि इस दिशा में आगे कोई काम नहीं हुआ और यदि कोई काम हुआ भी तो उसकी कोई जानकारी देश को नहीं है।

मंडल आयोग ने पूरे देश में 3743 ओबीसी जातियों की पहचान की थी। यदि इनमें एससी और अगड़ी जातियों को जोड़ दिया जाए तो संख्या 4000 से ज्यादा नहीं जा सकती है। प्रत्येक राज्य में आरक्षण लागू किया गया है जिसका आधार उस राज्य में विद्यमान एससी–ओबीसी जातियों की सूची है. इन्हीं सूचियों के आधार पर केन्द्र सरकार की नौकरियों और शिक्षण संस्थानों में एससी–ओबीसी को आरक्षण दिया जाता है। जाति का जो भी आंकड़ा आये वह पहले से सूचीबद्ध जातियों का होना चाहिए। जाति जनगणना का काम मलिकों और सोलंकियों की गिनती करना नहीं है बल्कि यह बताना है कि जाटों की संख्या किन राज्यों में कितनी है और उनकी शैक्षणिक, सामाजिक और आर्थिक हालात क्या हैं? उसी तरह जाति जनगणना का काम यह बताना नहीं है कि ब्राह्मणों में कान्यकुब्ज, सकलदीपी, मैथिल, सारस्वत आदि ब्राह्मण कितने हैं, बल्कि यह बताना है कि ब्राह्मण कुल कितने हैं और उनकी शैक्षणिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति क्या है, चाहे उनका उपनाम, उपजाति, गोत्र कुछ भी हो। जाति जनगणना जातियों की गणना है न कि उपनाम, उपजातियों और गोत्रों की। जाति जनगणना का उद्देश्य जाति विभाजित समाज को और ज्यादा विभाजित करना नहीं है बल्कि शताब्दियों पुरानी जाति विभाजित समाज की तस्वीर पेश करना है जिससे समाज और सरकार जातिगत भेदभाव और सामाजिक–आर्थिक असमानता दूर करने के लिए राष्ट्रीय संसाधनों के सम्यक बंटवारे की सही योजना बनाने में सक्षम हो सके। सबसे सही होता कि जातियों की जो सूची राज्यों और केन्द्र में है उसी में 46 लाख उप जातियों और गोत्रों को समाहित कर केन्द्र सरकार जातियों की सामाजिक–आर्थिक हालात के साथ जनगणना की रिपोर्ट प्रस्तुत करती।

लेखक सामाजिक राजनीतिक विषयों के शोधार्थी हैं।

फिलहाल सरकार 2021 की जनगणना में ओबीसी जातियों की जनगणना करने की बात कर रही है. यदि अरुण जेटली का आशय यह है कि 2011 की जाति जनगणना के आंकड़े में लाखों गड़बड़ियां हैं जिनको दुरुस्त करने की आवश्यकता है तो फिर इसको जाहिर करते हुए केन्द्र सरकार को श्वेत पत्र जारी करना चाहिए जिससे देश आश्वस्त हो सके कि किन मजबूरियों के तहत वर्तमान केन्द्र सरकार 2011 की जाति जनगणना की रिपोर्ट देश के समक्ष पेश करने में असमर्थ है। कम्प्यूटर टेक्नोलॉजी के समय में आंकड़ों की प्रविष्टि, उनका फिल्ट्रेशन और विश्लेषण कोई समस्या नहीं रह

गई है। ब्रिटिशकालीन जनगणना के समय कम्प्यूटर टेक्नोलॉजी नहीं थी फिर भी मुकम्मल आंकड़े जुटाए गए। आज की सरकारों के पास जनगणना की रिपोर्ट नहीं जारी करने का कोई बहाना नहीं बचा है। 14 फरवरी, 2018 के 'द टेलीग्राफ' अखबार में बसंत कुमार मोहंती ने सरकारी सूत्रों का हवाला देते हुए लिखा है, "आकंड़ों का विश्लेषण फिर भी कठिन नहीं है। ऐसे सॉफ्टवेयर हैं जो छोटे स्पेलिंग या उच्चारण के विचलन को एक जाति के नाम के तहत कर सकते हैं। किन्तु सब कुछ सरकार की इच्छा शक्ति पर निर्भर करता है।" मोहंती ने पी एस कृष्णन को उद्धृत करते हुए लिखा है, "आप की जाति क्या है पूछने की जगह पर जनगणनाकार को चाहिए था कि वे सरकार की पिछड़ी जातियों की लिस्ट दिखाते और पूछते कि इनमें आप किस जाति में आते हैं। इससे लोगों के पास अपने गोत्र, उप जाति, कुलवंश का नाम बताने का विकल्प सीमित हो जाता।" सूत्रों के हवाले से मोहंती ने आगे लिखा है कि सरकार की चिंता यह है कि जनगणना ओबीसी की ऊंची जनसंख्या प्रकट करेगी जिससे शिक्षा और नौकरी में ज्यादा आरक्षण की मांग शुरू हो जाएगी।

बहुजन सामाजिक आंदोलन केवल जातियों की संख्या गिनने के खिलाफ रहा है। सामाजिक आर्थिक सूचकों के आंकड़ों के बिना जातियों की जनसंख्या गिनने से समस्या सुलझने की जगह पर उलझेगी। यदि जाति जनगणना यह नहीं बता पाती है कि किस जाति की शैक्षणिक–आर्थिक स्थिति क्या है तो ऐसी जाति जनगणना का बहुजन सामाजिक आंदोलन विरोध करेगा। इससे बेहतर होगा कि जाति जनगणना नहीं करायी जाए। बिना शैक्षणिक–आर्थिक सूचकांकों के जाति जनगणना से राजनीतिक दलों को यह पता चलेगा कि किस चुनाव क्षेत्र में किस जाति के लोग कितने हैं और इस आधार पर किस जाति के उम्मीदवार को टिकट देना चुनाव जीतने के लिए जरूरी होगा। इससे जातिवाद बढ़ेगा और भारतीय समाज और ज्यादा विखंडन की ओर बढ़ेगा। 21 वीं सदी भारतीय समाज के मूल अन्तर्विरोध, जाति अन्तर्विरोध के समाधान की सदी होनी चाहिए न कि इस अन्तर्विरोध को राजनीतिक अवसरवाद के तहत अराजकता की ओर ले जाने की सदी होनी चाहिए। भारत शायद यह बर्दाश्त न कर पाए और अंतहीन अराजकता और विखंडन की ओर बढ़ता चला जाए।

प्रत्येक देश अपनी जनसंख्या से संबंधित आंकड़ा जुटाता है। सबाल्टर्न के इसी अंक में नेपाल सरकार द्वारा की गई जाति, धर्म, भाषा तथा सामाजिक–आर्थिक कारकों पर आधारित जनगणना की रिपोर्ट पाठकों के लिए उपलब्ध करायी गई है। यदि नेपाल की जनगणना रिपोर्ट की तुलना भारतीय जनगणना से की जाए तो इसका अधूरापन, अधकचरापन और सीमित दायरा साफ पता चलता है। यह सोचने, समझने और विश्लेषण करने के लिए गंभीर विषयवस्तु है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारतीय राज्य सामाजिक–आर्थिक कारकों पर आधारित मुकम्मल जाति जनगणना कराने से क्यों बचता रहा है? विश्लेषण का यह भी मुद्दा होना चाहिए कि अंग्रेजी सरकार को जाति जनगणना से क्यों कोई परहेज नहीं था और स्वतंत्र भारत में जिनके हाथ में सत्ता आई वे जाति जनगणना से क्यों परहेज करते रहे हैं। भारत के आलोचनात्मक अर्थशास्त्रियों ने जिनमें वामपंथी अर्थशास्त्रियों की बहुतायत है, ने कभी जाति जनगणना नहीं कराये जाने के चलते जीवंत और मुक्कमल आंकड़ों की कमी और इसके चलते योजना बनाने में बाधा को लेकर कोई अध्ययन नहीं किया है। तमाम तथ्य इस ओर इशारे करते हैं कि जाति विमर्श को रोकने के लिए जाति जनगणना नहीं कराई गई। यह अंग्रेजों के द्वारा कराई गई जनगणना का ही नतीजा था कि देश में व्यवस्थित तरीके से जाति विमर्श शुरू हुआ और आरक्षण की लोकतांत्रिक राजनीति ने जोर पकड़ा। जाति जनगणना की रिपोर्ट में भारत की निम्न जातियों को अपनी गरीबी, अशिक्षा, पिछड़ापन का सही–सही ज्ञान प्राप्त हुआ और इस ज्ञान के आधार पर वे अपनी नियति को बदलने के लिए सक्रिय और लामबंद हुए।

ब्रिटिशकालीन जाति जनगणना ने जातियों के मध्य सत्ता, संपत्ति और सम्मान के असमान वितरण को और कि भारतीय सामाजिक व्यवस्था जाति आधारित है, को सांख्यिकी विज्ञान के तरीके से प्रमाणित कर दिया। भारत की बहुजन जनता यह तो जानती थी कि वे बहुसंख्यक हैं, वे गरीब, अशिक्षित और पिछड़ी हुई हैं। आजादी के बाद जाति विमर्श को हाशिये पर डालने के लिए जाति जनगणना को बंद कर दिया गया। न रहेगा बांस, न बजेगी बांसुरी। न जाति जनगणना होगी, न जाति विमर्श होगा, न भारतीय समाज सैंकड़ों साल पुराने जाति अंतर्विरोधों के समाधान की ओर आगे बढ़ेगा। सामाजिक यथास्थितिवाद के समर्थन में इससे कारगर कोई फार्मूला नहीं हो सकता है। किंतु क्या भारतीय समाज के मूल अंतर्विरोध का समाधान अनंत काल तक टाला जा सकना संभव है? नहीं, यह संभव नहीं है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक समता के हनन पर आधारित जाति व्यवस्था के खात्मे को लाखों उपक्रम करके भी नहीं टाला जा सकता है। किंतु यह स्वतः खत्म नहीं होगा। निरंतर जाति विमर्श ही वह मूल चीज है जो जाति व्यवस्था को खत्म कर रहा है और अंततः खत्म कर देगा। जाति जनगणना नहीं कराकर जाति विमर्श को कुंठित करने की कोशिश की गई। किन्तु आरक्षण आंदोलनों ने अलग–अलग राज्यों में जाति विमर्श को जिंदा रखा। मंडल ने पूरे देश भर में जाति विमर्श को खड़ा कर दिया। मंडल के पहले सामाजिक विमर्श में जाति की प्रधानता नहीं होती थी। आज वे सभी साहित्य कूड़ा साबित हो रहे हैं जिसमें जाति विमर्श नहीं है। जाति विमर्श का परिणाम है कि पहले यूपीए और अब एनडीए सरकार को जाति जनगणना पर बीच बीच में बयान देने पड़ रहे हैं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि सरकार जाति जनगणना को लेकर अपना मन साफ कर चुकी है।

राजनीतिक विज्ञानी योगेन्द्र यादव जाति जनगणना को रोके जाने के लिए 'राजसत्ता के गहन ब्राह्मणवादी चरित्र' (डीप

ब्राह्मिनिकल स्टेट) को जिम्मेदार मानते हैं। वरिष्ठ पत्रकार राजेश रामचंद्रन ने 12 जुलाई, 2015 के इकोनोमिक टाइम्स में लिखा है :"एक कहानी की चर्चा जोरों पर है. जब जाति जनगणना के आंकड़े सजाये जा रहे थे तो एक उच्चस्थ अधिकारी उच्च जातियों की जनसंख्या के आंकड़े को देखकर इस कदर चौंक पड़े कि (क्योंकि उनकी संख्या बाकी जातियों की तुलना में तुच्छ रूप से कम थी) वे बिना देर किये अपनी गाड़ी में बैठकर तेजी से रायसीना हिल्स में अपने बॉस को यह बताने दौड़ पड़े। वे लोग भी इससे सहमत हुए कि उच्च जातियों की संख्या खतरनाक तरीके से इतनी कम है कि इसे दुनिया को नहीं बतलाया जा सकता है। यह कहानी चाहे सही हो या गलत, केवल जाति जनसंख्या के आंकड़े का खुलासा शासकों और लोगों को समानुपातिक भागीदारी देने के लिए बाध्य कर सकता है।

1947 के बाद से जो जनगणना होती आयी है उसमें दलित, आदिवासी और धार्मिक समुदायों की संख्या की रिपोर्ट जारी होती रही है किंतु ओबीसी और अगड़ी जातियों की संख्या इसमें नदारद रहती है। ध्यान देने की बात है कि दलितों, आदिवासियों की विभिन्न जातियों और ट्राइब्स की संख्या रिपोर्ट में नहीं रहती है न ही आर्थिक सामाजिक कारक मौजूद रहते हैं। हम यह तो जान पाते हैं कि देश में दलित जनसंख्या का प्रतिशत क्या है किंतु उनकी अलग–अलग जातियों की संख्या और उनकी जीवन स्थिति में कहां तक सुधार हो पाया यह नहीं जान पाते हैं। मसलन हम नहीं जान पाते हैं कि कितने धोबी आज भी कपड़े धोने का काम कर रहे हैं और कितने अपनी जाति पेशे को छोड़ चुके हैं। हम नहीं जान पाते हैं कि धोबी जाति के जिन लोगों ने अपने जाति पेशे को छोड़ा उनमें कितने आरक्षण का लाभ उठाकर सरकारी नौकरी में गए और कितने असंगठित और संगठित क्षेत्र में काम कर रहे हैं। हम यह भी नहीं जान पाते हैं कि जो धोबी कपड़े धोने का काम कर रहे हैं उनमें कितने मशीन से कपड़े धो रहे हैं और कितने पुराने तरीके से कपड़े धो रहे हैं। यही बात सभी दलित जातियों के संबंध में लागू होती है। इन आंकड़ों के अभाव में हम भारतीय समाज की प्रगति को कभी समझ नहीं पाते हैं न ही किसी जाति विशेष की समस्याओं का सही आकलन कर पाते हैं। मुसलमानों की संख्या गिनी जाती है किंतु उनमें मौजूद जातियों की जनसंख्या के बारे में कोई जानकारी नहीं है। नतीजे के तौर पर मुस्लिम एक मोनोलिथिक समुदाय के रूप में सामने आता है जो हिन्दू मुस्लिम धार्मिक तनाव और साम्प्रदायिकता का एक अहम कारण है। ओबीसी और अगड़ी जातियों से संबंधित तो कोई आंकड़ा ही जनगणना रिपोर्ट में मौजूद नहीं रहती। अमेरिकी सरकार अन्तरनस्लीय, अंतरधार्मिक आदि विवाहों के आंकड़े जुटाते रहती है जिससे अमेरिका की सामाजिक गतिशीलता और परिवर्तन की दिशा का पता चलता रहता है। इन आंकड़ों के चलते अमेरिका एक चेतनशील समाज है। उसे अपने बारे में पता है कि वह क्या है और किस ओर अग्रसर है। जब कि भारतीय समाज अंतरजातीय, अंतरधार्मिक और अन्तरभाषाई विवाहों के आंकड़ों से वंचित रहने के कारण एक बेखुदी समाज बन गया है जिसे यह पता नहीं है कि वह क्या है और किस ओर अग्रसर है। मौलिक महत्व के आंकड़ों के अभाव में हम एक राष्ट्र के रूप में अंधेरे में अपना रास्ता टटोल रहे हैं। अदालत जब प्रोन्नति में आरक्षण जैसे मसले पर नकारात्मक फैसले सुनाती है तो हम बिना देरी किए हुए इसे अदालत की जातिवादी आरक्षण–विरोधी सोच करार देते हैं। किन्तु हम यह भूल जाते हैं कि संविधान उसी को आरक्षण देने के लिए प्रावधान करता है जिसका प्रतिनिधित्व समुचित नहीं होता है। सरकार के पास समुदायों–जातियों का नौकरी, शिक्षा, न्यायपालिका आदि में भागीदारी का कोई आंकड़ा मौजूद नहीं है जिससे किसी समुदाय की असमुचित भागीदारी को प्रमाणित कर उसके लिए प्रोन्नति में आरक्षण का रास्ता साफ किया जा सके।

केन्द्र सरकार ने ओबीसी को विभाजित करने के लिए आयोग बनाया है किन्तु यह आयोग कैसे काम रहा है जबकि इसके पास कोई आंकड़ा ही नहीं है? जाति जनगणना के साथ आवश्यक है कि सरकारी महकमे (केन्द्र और राज्य सरकारों) में कार्यरत लोगों की भी जाति जनगणना करायी जाए जिससे यह जाना जा सके कि आरक्षण के चलते किन जातियों को कितना प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ और उप विभाजन का सही और तार्किक आधार तैयार हो सके। अलग–अलग राज्यों में आरक्षण की मांग को लेकर कोई न कोई जाति उठ खड़ी होती है। हरियाणा के जाटों, राजस्थान के गुज्जर, गुजरात के पटेल और महाराष्ट्र के मराठा आंदोलनों की यादें ताजी हैं। मुकम्मल जाति जनगणना के साथ देश के सरकारी महकमे की जाति जनगणना ही इनका समाधान है। यदि जाति जनगणना और सरकारी महकमे की जाति जनगणना इस तथ्य को सामने लाती है कि जाट, गुज्जर, पटेल और मराठा सामाजिक और शैक्षणिक रूप से पिछड़े हुए हैं और सरकारी तंत्र की नौकरशाही में इनका प्रतिनिधित्व पर्याप्त नहीं है तो फिर इनको भी आरक्षण की श्रेणी में लाये जाने पर विचार करना होगा।

मुकम्मल जाति जनगणना आज बहुजन महत्व से बढ़कर राष्ट्रीय महत्व का मुद्दा बन गया है। सच्चर आयोग ने जाति जनगणना के नहीं होने का रोना रोया है और राष्ट्रीय डाटा बैंक बनाए जाने की जरूरत को रेखांकित किया है। मंडल आयोग ने अपनी रिपोर्ट का आधार 1931 की जनगणना रिपोर्ट को बनाया है। मंडल आयोग ने यह भी अनुशंसित किया है कि प्रत्येक बीस साल पर समीक्षा होनी चाहिए कि मंडल आयोग की अनुशंसाएं कहां तक लागू हो पाई है और ओबीसी की जीवनस्थिति में कहां तक सुधार हो पाया हैं। बी.पी. सिंह की सरकार ने 1990 में मंडल आयोग लागू करने की घोषणा की थी। उसके बाद से कोई समीक्षा नहीं हुई हैं किन्तु यह समीक्षा मुकम्मल जाति जनगणना के बिना नहीं हो सकती है। ❒

अब डेरे मंजिल पे ही डाले जाएंगे

नूर जहीर

पिछले माह एनडीए सरकार ने तीन तलाक बिल पर राज्यसभा में बहस से बचते हुए इसे अध्यादेश का रूप दे दिया है। अब एक बार तीन तलाक को आपराधिक कृत्य माना गया है, गैर–जमानती धारा लगाई गई है और तीन वर्ष सजा का प्रावधान है। यहां उल्लेखनीय है कि हिन्दुओं में बिना औपचारिक तलाक के पत्नी को परित्यक्त करने की घटना आम है जो करीब–करीब तीन तलाक जैसा ही है। भारतीय दंड संहिता के अनुसार यह आपराधिक कृत्य नहीं, सिविल अपराध हैं। नरेन्द्र मोदी इसके सबसे बड़े उदाहरण हैं जिन्होंने पिछले 40 वर्षों से यशोदाबेन को छोड़ रखा है। भाजपा इस कदम को इस रूप में चित्रित कर रही है कि भारतीय मुसलमान अपनी महिलाओं के प्रति बहुत क्रूर हैं और कि वह उनकी महिलाओं की सबसे बड़ी उद्धारक है। हालांकि कई मानवाधिकार और महिला संगठन इसे समान नागरिक संहिता के भी खिलाफ मान रहे हैं क्योंकि मुसलमान पुरुषों को अलग से टारगेट किया जा रहा है। प्रस्तुत लेख रैडिकल दृष्टि से लिखा गया है कि सभी धर्म महिलाओं का शोषण करते हैं। बदलते जमाने के हिसाब से भारतीय मुसलमान अपनी महिलाओं की समान हैसियत के लिए खुद भीतर से पहल करें ताकि वर्तमान बहुसंख्यकवादी निजाम को गैर जरूरी हस्तक्षेप और दुष्प्रचार का मौका न मिले। – संपादक

सुप्रीम कोर्ट ने अपना फैसला सुना दिया है और उस पर खुशियां भी मना ली गई हैं। कट्टरपंथियों ने अपनी आवाज बुलंद कर दी है "सजा मिले तो मिले, मुसलमान पुरुष तो एक बार में तीन तलाक देते रहेंगे"। दूसरी तरफ उच्चत्तम न्यायालय ने संसद से कहा है कि वे उसके फैसला को धारा की शक्ल देने की प्रक्रिया छह महीने के भीतर शुरू कर दें। सरसरी नजर डाली जाए तो मुस्लिम महिला के लिए सब अच्छा–अच्छा ही हो रहा है।

लेकिन ध्यान से देखें तो सुप्रीम कोर्ट के इस फैसले ने मुस्लिम महिलाओं को क्या दिया है? तीन महीने के लगभग का समय जिसमें वह तलाक दे रहे पति को मना सके, घरवालों को बुलाकर उसपर दबाव डाल सके और कुछ अपनी आर्थिक स्थिति ठीक–ठाक कर सके। मुस्लिम महिला न पुरुष के इस फैसले को चुनौती दे सकती है, न इस फैसले में आर्थिक बंटवारे की बात है, न बच्चों की कस्टडी की, न उसको घर से निकाल देने की कोई बात की गई है। तो महिला को सिवाए अपने माता–पिता के पास लौट जाने के और कोई रास्ता नहीं रहता। माता–पिता, भाई अगर उसके पक्ष में हुए तब तो ठीक वर्ना उसका हाल धोबी के कुत्ते–सा हो जाता है। सायरा बानो जिसके पेटीशन पर ये मामला फिर गरमाया है, दो साल की लम्बी लड़ाई इसीलिए लड़ पाईं, क्योंकि उसके भाइयों ने उसका साथ दिया।

हिन्दी, अंग्रेजी और उर्दू में नियमित लेखन से जुड़ीं लेखिका के संस्मरण, यात्रावृत्त, उपन्यास, कहानी और नाटक की कई पुस्तकें प्रकाशित हैं।

मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड कहता है कि लंबी चलने वाली न्यायिक गतिविधि महिला के पक्ष में नहीं, क्योंकि पुरुष उसे बदनाम करके उसके पुनः विवाह के रास्ते बंद कर सकता है। पैतृक सत्ता के चलते तलाकशुदा होना ही अपने–आप में एक श्राप की तरह माना जाता है। इस देश में मौलवी तो बुर्का पहने हुए आंदोलनकारी महिलाओं को बदतरीन गालियां दे रहे हैं इससे ज्यादा और क्या बदनाम होगी? यह सोचना महिलाओं का काम है कि वे इस बदनामी से कैसे जूझें, मौलवीगण चिंता न करें।

यहां पर यह सवाल पूछने की भी जरूरत है कि आल इंडिया मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड की वैधता क्या है? क्यों जरूरी है उच्चत्तम न्यायालय के लिए इस बोर्ड की राय लेना। यह मुद्दा महिलाओं का है, उन्हें ही इसे भोगना पड़ता है, वही इसके खिलाफ आवाज उठा रही हैं, पी. आई. एल. दाखिल कर रही हैं, सड़क पर उतरी हैं। फिर यह कैसी पैतृक मानसिकता है जिसके तहत उस संस्था से राय मांगी जा रही है जिस पर उलेमा हावी हैं, जो न कोई बदलाव चाहते हैं न कोई बदलाव लाने की सलाहियत रखते हैं।

मजे की बात यह है कि कुछ महिलाएं भी जुट जाती हैं पुरुषों के इस एक तरफा तलाक देने की तरफदारी करने। यह वे हैं जो बातें तो बड़ी–बड़ी करती हैं, लेकिन जमीनी हकीकत से नावाकिफ हैं। हो सकता है कि उनके सिरों पर पतियों ने 'तीन तलाक' की तलवार लटका रखी हो। जी हां, अक्सर महिलाओं से बात करके यह मालूम हुआ कि उनके पतियों ने उन्हें धमकाया 'आंदोलन किया, जुलूस में गईं तो तुम्हें तलाक दे देंगे।'

मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड तो अड़ा हुआ है, लेकिन कई मौलवी और इमाम भी महिलाओं के पक्ष में खड़े हुए हैं। बहुत से पुरुष भी सवाल उठा रहे हैं और केरल के न्यायाधीश पाशा ने कहा है कि इन रूढ़िवादी नियमों के चलते भारतीय संविधान की अवहेलना हो रही है जो महिलाओं को पुरुषों से बराबरी का दर्जा देता है। यह सुखद संकेत है और शायद सुप्रीम कोर्ट ने भी इनपर नजर की होगी जब इस पेटीशन पर फैसला लिया होगा। लेकिन महिला गुटों, प्रगतिशील इस्लामी आलिम और संवेदनशील पुरुष ही काफी नहीं हैं बदलाव के लिए। सायरा बानो के मामले ने इस बात की ओर ध्यान खींचा है कि सभी नागरिक बराबर नहीं हैं इस देश में। सायरा बानो की बात शाहबानो के मामले के तीस साल बाद उठी है यह अपने आप में गौर तलब है। इससे साबित होता है कि मुस्लिम महिला का शोषण ऐसा मुद्दा नहीं जिसपर फौरन और स्थाई रूप से प्रभाव डालने वाले किसी फैसले की जरूरत हो।

शाहबानो तलाक के लगभग बीस साल बाद, बुढ़ापे में आकर अपने लिए गुजारा भत्ता मांग रही थी। उन्होंने शुरुआत सबसे निचले कोर्ट से की, एक–एक सीढ़ी चढ़ कर सुप्रीम कोर्ट तक पहुंची और हर कोर्ट ने उनके पक्ष में फैसला दिया। अंत में समुदाय के मौलवियों ने ही उन्हें इतना धमकाया और जान तक की धमकियां दीं। हर किसी से सहायता मांगने और न पाने के बाद उन्होंने सुप्रीम कोर्ट से ही कहा कि वह अपने फैसले पर पुनः विचार करे। मुख्य न्यायाधीश जस्टिस चंद्रचूड का बयान है कि ''यह पहला मौका है जब जिसके पक्ष में फैसला हुआ वही पुनः विचार की मांग करे।''

तीस के लगभग सायरा बानो दो बच्चों की मां एक तकलीफदेह गर्भपात के बाद कुछ दिन आराम करने अपने पिता के घर गई और वहीं उन्हें तलाकनामा मिला। लेकिन अब तक मुस्लिम महिलाएं संगठित हो चुकी थीं, सायरा बानो भी पढ़ी–लिखी थीं और अपने संवैधानिक हकों के लिए लड़ने में सक्षम। सायरा बानो ने न सिर्फ सुप्रीम कोर्ट की गुहार लगाई बल्कि उन्होंने अपील की कि तीन तलाक, हलाला और बहू विवाह सभी को गैर कानूनी करार दिया जाए।

मिस्र, इराक, जॉर्डन, कुवैत, मोरक्को, फिलीपीन्स, सूडान, सीरिया, यमन में इन तीनों को खतम कर दिया गया है। ये इस्लामी देश हैं, इसलिए यह पूछना जरूरी है कि इसे लोकतंत्र में क्यों चलने दिया जा रहा है? बल्कि सवाल यह होना चाहिए कि कोई भी धार्मिक निजी कानून क्यों लागू रहे किसी भी लोकतंत्र में और इक्कीसवी सदी में? 2015 में भारतीय मुस्लिम महिला आंदोलन द्वारा दस राज्यों के 5000 मुस्लिम महिलाओं के एक सर्वे में 80 प्रतिशत बहुविवाह और तीन तलाक पर रोक चाहती थीं। इनमें से 74 प्रतिशत को तीन तलाक दिया गया था और 70 प्रतिशत को हलाला से गुजरना पड़ा था।

एक मुसलमान सज्जन से मैंने पूछा 'क्या आप समझते हैं? कोई भी महिला पति की दूसरी शादी को पसंद करेगी? या एकतरफा दिए गए तीन तलाक को खुशी से कुबूल करेगी?' वे बोले 'अगर वह एक अच्छी मुसलमान है तो जरूर करेगी।' और यही पर आकर इस गंभीर मुद्दे पर बहस रुक जाती है। मौलवियों का कहना है उनके अनुसार चलना ही 'अच्छे मुसलमान होने की कसौटी है भले ही उनका कहा इंसानियत के और कुरान दोनों के खिलाफ हो। यह तो मौलवी भी मानते हैं कि कुरान एक बार में तलाक को गलत बतलाता है। पहली, दूसरी बार तलाक कहने के बाद एक माह दस दिन, और तीसरी बार के बाद 3 माह दस दिन

की इद्दत के बाद ही तलाक माना जाना चाहिए। लेकिन आल इंडिया मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड में बैठे मौलाना कहते हैं कि आज अगर इसे लागू किया गया और पुरुषों को दो महीने बीस दिन इंतजार करना पड़ा तो वे अपनी पत्नियों का खून कर देंगे।

क्या इतनी बेकरारी है सुन्नी मुस्लिम पुरुषों में कि उनसे 80 दिन इंतजार नहीं होगा! या मौलाना आज सड़क पर उतरी, न्याय की मांग करती मुस्लमान महिलाओं को धमकी दे रहे हैं, 'इस मांग पर आंदोलन करना बंद करो वरना मार देंगे!' तब तो एक सर्वे करवाने की जरूरत है मुसलमानों के शिया फिर्के में जिनमें तीन तलाक एक साथ नहीं माना जाता। कितनी पत्नियों का खून हुआ और हिन्दू समुदाय में जिन्हें 'तत्काल तलाक' में भी 3 महीने इंतजार करना पड़ता है, क्या पत्नियों का खून कर दिया है? या सुन्नी मुस्लिम पुरुष किसी अलग तरह के मर्द हैं ?

सिर्फ इतना ही नहीं है कि तलाक एकतरफा है। मुसलमान महिला इसको मानने के लिए बाध्य है। वह न इसे नकार सकती है न ही इसे किसी कोर्ट में चुनौती दे सकती है। 22 इस्लामी देशों ने तीन तलाक को रद्द कर दिया है लेकिन भारत एक जनतांत्रिक देश है जिसके संविधान की प्रस्तावना में ही हर नागरिक को बराबर माना गया है, ये रद्द नहीं। मुस्लिम महिलाएं उच्चतम न्यायलय से अपना बराबरी का हक मांग रही हैं। जो मामला अभी गरमाया है कुछ देर में उसमें उबाल भी आएगा, यह प्राकृतिक नियम है।

अभी सुप्रीम कोर्ट ने केवल एक बार में तीन तलाक को गैर–कानूनी करार दिया है। और कोई बात शायद इसलिए नहीं की, क्योंकि और किसी बात पर पेटीशन नहीं किया गया था। मसलन तीन तलाक एक वक्त में या कोई भी और तलाक मुस्लिम महिला नहीं दे सकती। यदि मुस्लिम महिला रिश्ता तोड़ना चाहे तो उसे कारण बताना पड़ता है, उस कारण पर मौलवी विचार करते हैं जायज है या नहीं, महिला को अपना 'महर' यदि वह शादी के वक्त न दिया हो तो छोड़ना पड़ता है, अगर दे दिया गया हो तो लौटाना पड़ता है और अक्सर कुछ और रकम देकर अपने लिए 'तलाक' खरीदना पड़ता है। इतना करने के बाद भी 'तलाक, तलाक, तलाक' कहता पुरुष ही है, महिला नहीं। इसमें अक्सर कई साल लग जाते हैं। क्योंकि इस्लाम पुरुष को 4 शादियों की इजाजत देता है इसलिए वह तो दूसरी शादी करके आराम से रहता है, और तलाक चाहने वाली महिला अकेली विधिशास्त्र के महकमों/संस्थानों के चक्कर काटती रह जाती है। यह पता लगाने की भी जरूरत है कि इस लंबी दुर्दशा से जूझते हुए कितनी मुस्लिम महिलाओं ने अपने पतियों की हत्या करने की कोशिश की है। बच्चों के लिए अनुरक्षण से भी पुरुष अक्सर छूट जाते हैं और पत्नी के लिए तो अनुरक्षण मानते ही नहीं मौलवी। बस महर देना ही जरूरी है और अमूमन यह भी पूरी नहीं मिलती, क्योंकि अक्सर जो मौलवी तलाकनामा बनाते हैं वह कुछ पैसों के लालच में महर अदा की गई भी जोड़ देते हैं। महर अदा का सर्टिफिकेट उस महिला से नहीं लेना होता जो कल तक पत्नी थी बल्कि मौलवी/काजी देता है। ऐसे ही एक झूठे मामले में महिला ने दारुल उलूम तक की गुहार लगाई जहां कहा गया कि 'अल्लाह बेईमान मौलवी और पति को जरूर सजा देगा, उन्हें इसका बदला दूसरी दुनिया में चुकाना होगा।' लेकिन जीना तो औरत को इस दुनिया में है और आज मुस्लिम महिला अल्लाह से नहीं उच्चतम न्यायालय से न्याय मांग रही है।

बहुविवाह के बारे में भी यह मौलवी कहते हैं कि इससे बहुत सारी महिलाओं की शादी हो पाती है वरना वे कुवांरी रह जाएंगी। शायद यह इतनी बुरी बात भी न हो, क्योंकि बुरे रिश्ते से रिश्ते का न होना बेहतर है। लड़की पढ़ी–लिखी, आत्मनिर्भर हो तो शायद वह अपनी मनमर्जी का साथी मिलने तक अकेली जीवन व्यतीत करना पसंद करे?

मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड कहता है कि बहुविवाह और तीन तलाक एक बार में, मुसलमानों का सांस्कृतिक और सामाजिक मामला है और उच्चत्तम न्यायालय को इससे दूर रहना चाहिए। किसी भी समाज में होने वाले अन्याय में उच्चतम न्यायालय नहीं तो और कौन बोलेगा? वे जो अभी तक अन्याय करते रहे हैं? ज्यादातर पुरुष दूसरी शादी करके पहली वाली को तलाक नहीं देते, क्योंकि वे महर नहीं देना चाहते। इस तरह से वे दोनों शादियों का मजा ले सकते हैं, पहली वाली घर संभाले और दूसरी पति संभाले।

इस्लाम में शादी एक कॉन्ट्रैक्ट है यह बात सही है, लेकिन मौलवी कहते हैं इस कॉन्ट्रैक्ट में दोनों पार्टियां बराबर नहीं हैं। यह सरासर संविधान विरुद्ध बात है जो कहता है कि हर भारतीय नागरिक बराबर हैं। मौलवी गण शरियत को अपने विरोध का कारण बताते हैं। कुछ दिन पहले अपनी किताब 'डिनाइड बाई अल्लाह' पर काम करते हुए मैंने तीन तलाक की हकीकत और वजह जानने की कोशिश की थी। पता चला एक पति को रोता बच्चा पसंद नहीं था, एक पत्नी ने दो बार फोन नहीं उठाया, एक पत्नी बीमार थी और कैंसर का शक था, एक को बुखार था इसलिए खाना नहीं बना पाई जैसे कारणों से तलाक हुआ। यानी छोटी से छोटी बात पर तलाक एक ऐसा अस्त्र है जिसे मुसलमान पुरुष इस्तेमाल करते हैं। कोई पलटकर नहीं पूछता कि जब कुरान कहता है कि अपनी पत्नी को इतना खुश रखो कि उसे अपनी जरूरत बताने की भी नौबत न आए तो तुम उसे इतना दुःख क्यों दे रहे हो? मुश्किल यह है कि शरियत के नाम पर जो डर और भरम पाले गए हैं उनसे कैसे छुटकारा पाया जाए। यह बात कैसे समझाई जाए कि शरियत अल्लाह का फरमान नहीं है। इसे पैगम्बर मोहम्मद के मरने के डेढ़ सौ साल बाद मौलाना हनीफी ने लिखा था, मुसलमानों के अन्दर बहुत से फिरके और खंड हैं। तकरीबन सबकी अपनी–अपनी शरियत है जो अलग–अलग लोगों ने अलग–अलग वक्त पर लिखी है।

शरियत में कुरान और हदीस का विश्लेषण है और आदेशों को समझाया गया है ताकि जो लोग कुरान जितनी मुश्किल अरबी नहीं समझते उन्हें भी इस्लामी हिदायतें समझ आ जाए। लेकिन ये एक आदमी का, एक वक्त का नजरिया है। तो फिर आज कोई नई शरियत क्यों नहीं लिखी जा सकती जो आज की

जरूरतों के मुताबिक कुरान की आयतों का विश्लेषण करे। कुरान एक तर्क की बराबरी की कोशिश करती है, लेकिन चालू कानून तो वही होगा जो उस समय की पैतृकता प्रधान समाज को सुहाएगा। उसी 1400 वर्ष पुराना पुरुष पसंद कानून को मौलवी गण आज तक मुसलमानों के सर मढ़ रहे हैं।

शरियत में बदलाव संभव है वह तो इसी बात से जाहिर है कि 22 मुस्लिम बाहुल्य इस्लामी देशों ने यह बदलाव लागू कर डाले हैं। और सिर्फ इतना नहीं कि बदलाव किए हैं बल्कि उन बदलावों में भी संशोधन के रास्ते खुले रखे हैं। इन देशों में इन सालों में महिलाओं के पक्ष में बदलाव हुए :

तुनिशिया	–	1975	जोर्डन	–	1976
फिलिपीन्स	–	1977	अल्जीरिया	–	1984
कुवेत	–	1984	लीबिया	–	1984
मलेशिया	–	1984	मिस्र, इजिप्ट	–	1985
इराक	–	1987	यमन	–	1992
युएई	–	2004	मोरक्को	–	2005

यह याद रखने की जरूरत है कि इन देशों में तीन तलाक प्रचलित था, लेकिन फिर बदलाव किए गए। तुनिशिया और मिस्र में इन सालों के बाद भी दो–दो बार संशोधन हुए।

इस्लाम में तलाक तीन प्रकार का होता है : तलाक–ए–अहसान, तलाक–ए–हसन और तलाक–ए–बिदाह। पहले दोनों में तीन महीने के भीतर इसे वापिस लिया जा सकता है, लेकिन तीसरे में एक ही बार में तीन बार तलाक कहकर शादी खत्म की जा सकती है। कुरान में इस तरह के तलाक की सख्त शब्दों में मनाही है। लेकिन मौलवी इस तरह के तलाक को सही मानते हैं और जो उनकी बात नहीं माने उसे दंडित भी करते हैं। कुछ सेक्युलर समझदार लोगों का भी ऐसा मानना है कि इन सवालों को उठाने का यह माकूल समय नहीं है। तो भाई बताइए कि कब सही समय होगा कि इस पर बात की जाए?

अभी इस समय देश में कौन शासन कर रहा है और उसकी क्या मानसिकता है वह इस देश में जी रहे प्रगतिशील मुसलमानों से बेहतर कोई नहीं जानता–समझता। इसका सामना भी हमें ही करना है। अगर आज माकूल वक्त नहीं है इस्लामी कट्टरपंथ की बात करने का, जो हर धार्मिक कट्टरपंथ की तरह महिला विरोधी है तो नेहरू का समय तो माकूल रहा होगा? या इंदिरा गांधी का समय? तब इस मुद्दे को क्यों नहीं उठाया? क्यों उदारवादी मुसलमान नेताओं से बात नहीं की? 1950 से आजतक कोई बात या सुधार नहीं हुआ है इस्लामिक कुरीतियों में। 1986 में शाह बानो के हक में जाता हुआ फैसला उलट दिया सरकार और एक डरपोक प्रधानमंत्री ने। यानी पीढ़ी दर पीढ़ी महिलाएं ट्रिपल तलाक और हलाला का शिकार होती रहे वह मंजूर है, लेकिन सुधार की बात करने के लिए माकूल वक्त देखा जाएगा ?

ये सरकार मुसलमानों को नीचा दिखा रही है। डंके की चोट पर कह रही है कि देखिये कैसे हैं मुसलमान, ये अपनी औरतों तक को नहीं बख्शते! तो कीजिए न सुधार और उनके मुंह पर एक तमाचा मारिये कि 'इस्लाम को बदनाम न करो, इस्लाम में खुद अपने भीतर बदलाव कर पाने की कूबत भी है और साहस भी'। इससे यही संदेश जाएगा कि मुसलमान को कोई डर नहीं कि उन्हें कोई बहुसंख्यक समाज निगल लेने की कोशिश में है, उन्हें मालूम है कि उनका इस्लाम इतना मजबूत है कि वह इन छोटी–मोटी तब्दीलियों से खतरे में नहीं पड़ जाएगा।

अगर पति–पत्नी साथ न चल पा रहे हों तो उन्हें अलग हो जाना बेहतर है। लेकिन यह दोनों की रजामंदी से होना चाहिए। अगर एक अलग होना चाहता है तो दूसरे को बात करने, उसे समझाने, या खुद को सुधारने का मौका मिलना चाहिए। इसलिए बात तलाक के खिलाफ नहीं उसे देने के तरीके के खिलाफ है। इन शब्दों में भी बदलाव की जरूरत है, "तलाक दिया" की जगह "तलाक हुआ" का प्रयोग होना चाहिए।

माकूल वक्त कभी नहीं होता, वक्त को माकूल बनाना होता है। 9000 मुसलमान औरतें यह मांग कर रही थीं एक आंदोलन के रूप में कि ट्रिपल तलाक गैर–कानूनी किया जाए। क्या उनकी आवाज कोई वजन नहीं रखती? और यह वो औरतें हैं जो सड़क पर उतरी हैं। कितनी इसी डर से कि कहीं उनके पति उन्हें झटपट तलाक न दे डालें साहस नहीं कर पाई होंगी। एक पल को मान भी लिया जाए कि सचमुच मुसलमानों पर संकट है, उनके ऊपर एक युद्ध–सी स्थिति थोपी जा रही है। संघ परिवार द्वारा,तो उसका सामना हमें अपनी पूरी ताकत से करना चाहिए, आधी से क्यों कर रहे हैं? आधी को भी मुक्त कीजिये, सब कुरीतियों को उतार फेंकिए, महिलाओं को भी इस जंग का सिपाही समझिए ताकि जंग बगैर लड़े ही हारी न जाए।

सही वक्त कब होगा? संघी सोच के खत्म होने के बाद? मौजूदा सरकार के न रहने के बाद? ओबैसी, जाकिर नायक के गिरफ्तार हो जाने के बाद? कब वक्त होगा न्याय की बात करने का? कब समय आएगा जब हम यह स्वीकारेंगे कि हर धर्म महिला विरोधी है, हर धर्म महिलाओं का शोषण करता है और इसीलिए हर धर्म के लिए जरूरी है कि कानून को अलग किया जाए और इस बात को स्वीकारा जाए कि उसमें समय–समय पर बदलाव करते रहने की जरूरत है, क्योंकि कानून व्यवस्था समाज के लिए होती है, समाज नहीं बनाया जाता एक अटल कानून के दायरे में समाने के लिए। अरसे से घरों की चार दीवारी के भीतर इन मुद्दों पर चर्चा भी होती रही है और इन्हें अन्यायी और एकतरफा भी कहा जाता रहा है, लेकिन जब तक जिन पर जुल्म हो रहा है, वे एकजुट होकर अपनी आवाज बुलंद नहीं करते और अन्याय से जूझने का खुद फैसला नहीं लेते तब तक कोई खुल्लम–खुल्ला उनके पक्ष में खड़े होने का हौसला नहीं करता। इसीलिए हर मुद्दे पर जुलूस, प्रदर्शन, नारे और खुली बहस बदलाव का सशक्त माध्यम रहे हैं। यही कारण भी है कि जो विपक्ष में हैं वे इस तरह के तरीकों की निंदा करते हैं और सड़क पर उतरी महिलाओं पर 'घर के कोढ़ की बाहर नुमाइश" का नाम देते हैं। लेकिन इस बार

की नुमाइश का फायदा तो हुआ और उच्चतम न्यायालय ने तीन तलाक पर रोक लगा दी।

मुसलमान इस बात पर गर्व करते हैं कि इस्लाम एक प्रगतिशील धर्म है जिसने इंसानी समाज को विधिवत अलहदगी की प्रणाली प्रदान की है और अक्सर लोग यह समझते हैं कि एक बार में तीन तलाक के खिलाफ बोलने वाले तलाक के ही खिलाफ है। फौरन आंकड़े दिखा दिए जाते हैं कि तलाक तो ज्यादा हिन्दुओं में होता है। पहली बात तो यह कि अगर पति–पत्नी साथ न चल पा रहे हों तो उन्हें अलग हो जाना बेहतर है। लेकिन यह दोनों की रजामंदी से होना चाहिए। अगर एक अलग होना चाहता है तो दूसरे को बात करने, उसे समझाने, या खुद को सुधारने का मौका मिलना चाहिए। इसलिए बात तलाक के खिलाफ नहीं उसे देने के तरीके के खिलाफ है। इन शब्दों में भी बदलाव की जरूरत है, "तलाक दिया" की जगह "तलाक हुआ" का प्रयोग होना चाहिए। एक तरफा तलाक तो हर सूरत में है इस्लाम में, क्यों "तलाक' शब्द कहेगा तो पति ही। इसीलिए एक बार में तलाक को जुर्म माना गया है और इसे घरेलू हिंसा में शामिल करने की भी जरूरत है। यदि मानसिक उत्पीड़न हिंसा माना जाता है तो महिला के सिर पर हमेशा इस तलवार को लटकाए रखना भी तो मानसिक उत्पीडन ही हुआ।

अब समय है कि महिलाएं दूसरी मांगे भी उठाना शुरू करें। एक महिला भी दो गवाहों की मौजूदगी में तीन बार चालीस दिन के अंतराल के बाद तलाक कहे जैसा कि कुरान में है और उसका तलाक हुआ माना जाए। अगर तलाकशुदा पति–पत्नी दुबारा शादी करना चाहें तो उन्हें ऐसा करने के लिए 'हलाला' करने की जरूरत न हो। हलाला एक ऐसा घिनौना अमल है जिसमें एक महिला को पहले पति के पास लौटने से पहले एक और आदमी से निकाह करना होता है उससे तलाक होता है और फिर जाकर पहले वाले से उसकी शादी होती है। महर की रकम निकाह के समय अदा होनी चाहिए और जब तक महिला दूसरी शादी न करे तब तक उसे जीवन भत्ता 'मेंटेनेंस' मिलना चाहिए। अभी तक तो जब भी इस तरह की बात होती थी तो यह कहकर दबा दी जाती थी कि समुदाय खुद इस मुद्दे को उठाए। अब समुदाय की महिलाएं उठा रही हैं। सुप्रीम कोर्ट उनका साथ दे रही है, लेकिन मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड, एक पितृसतात्मक संस्था जिसकी कोई मान्यता नहीं, इस बदलाव की मुखालफत कर रहा है।

मुसलमानों को इस बात को स्वीकारना होगा कि समय के साथ व्यवस्था का बदलना जरूरी है। बहुत सारी महिलाएं पढ़–लिख कर काम करने लगी हैं। कम पढ़ी–लिखी भी चिकन, जरी जरदोजी, बीड़ी बनाने जैसे उद्योगों में लगी हैं। जो पैसा वे कमाती हैं, घर में लग जाता है। कुरान में इसके बारे में कोई बात नहीं। लेकिन आज महिलाओं को तलाक होने पर इसमें हिस्सा या मुआवजा मिलना चाहिए। इस बात को समझने की जरूरत है कि पैगम्बर मुहम्मद के वक्त में महिलाओं को इस तरह से काम करके, घर के खर्च में हाथ बटाने की जरूरत नहीं थी। अगर ये बदला है तो तलाक के नियम बदलना भी जरूरी है। उसी तरह से बच्चों की कस्टडी का मामला है, कहीं तो बच्चे बिना किसी मुआवजे के महिला के सिर पर आ जाते हैं और कही सायरा बानो वाले मामले की तरह पति उसे बच्चों से मिलने तक नहीं देता। इन सब मामलों का आसान रास्ता यही है कि धर्म और कानून को अलग किया जाए।

पहली बार सुनने में यह नामुमकिन–सा मालूम होता है, लेकिन अगर इस्लाम की नजर से देखें तो कुरान केवल पांच आदेश देता है किसी को मुसलमान मानने के लिए, अल्लाह और उसके भेजे गए पैगम्बर पर यकीन, नमाज की पाबन्दी, रमजान के महीने में तीसों रोजे रखना, जीवन में एक बार हज करना, और जकात अदा करना। तलाक, बहुविवाह और हलाला जैसे नियमों पर पुनःविचार और चर्चा किसी तरह से किसी को भी इस्लाम से दूर नहीं ले जाता। इसलिए इन सब मुद्दों पर, जिनमें गुजारा भत्ता, अचल मिलकियत का बंटवारा, बच्चों की कस्टडी और उनका पालन पोषण भत्ता सब पर मोर्चा खोलने की जरूरत है।

कुछ महिला संगठनों को लगता है कि छोटे–छोटे कदम बढाते हुए बढ़ना चाहिए ताकि इन लड़ाइयों को जीता भी जा सके और लागू भी किया जा सके। लेकिन उन्हें यह भी समझना चाहिए कि इस छोटी–सी बात को मनवाने में 30 साल लगे और आज शायद ऐसा समय है कि बदलाव को ठोस रूप दिया जा सकता है। यह सरकार मुस्लिम महिला के पक्ष में है इस गलतफहमी में कोई न रहे, वे केवल अपना हित जानती हैं, लेकिन इस हित सिद्धि के चलते अगर मुस्लिम महिलाओं को कुछ आत्मसम्मान मिल जाए तो बुरा क्या है?

असदुदीन आबैसी जैसों ने तो कीचड उछालना शुरू कर दिया है कि यह फैसला यूनिफोर्म सिविल कोर्ट लागू करने का ही तरीका है, क्योंकि वह भाजपा के इलेक्शन मनिफेस्टो में भी मौजूद है। इस डराने धमकाने के बजाये अगर समान नागरिक संहिता के मामले में सभी अल्पसंख्यक खुलकर बात करना शुरू करें तो शायद बेहतर हो। इस बहस में केवल धार्मिक गुरु ही हिस्सा न लें बल्कि धर्म और संविधान के जानकार और सबसे बढ़कर वे जो पीड़ित और शोषित हैं, इस पर चर्चा करेंगे।

अक्सर इस चर्चा के विरोध में यह कहा जाता है कि केवल मुफ्ती, हाफिज या उल्लेमा ही बात करें। लेकिन धर्मज्ञान की तैयारी में तो सवाल करना ही गुनाह माना जाता है, तब ऐतराज या संदेह जैसी बात ही कहां उठेगी? और अगर ऐसा नहीं होगा तो बदलाव की इच्छा ही कहां जन्मेगी?

आधी मुसलमान आबादी से संबंधित सवालों को उठाना भी जरूरी है और उनका न्यायिक हल निकालना भी जरूरी है। ऐसा खुली बहस, आदान प्रदान, विचार–विमर्श से ही हो पाएगा। मजहब खुद और मजहबी ठेकेदार चाहते नहीं कि बातचीत हो, क्योंकि आज महिलाएं भी अपने हक समझ रही हैं और इन मोर्चों पर उतरने के लिए संगठित भी हो रही हैं। देग आग पर चढ़ गई है और उबाल आने को है। बदलाव का मार्ग कठिन भी है और लम्बा भी, लेकिन संकल्प जब ले लिया है, संघर्ष शुरू हो गया है तो परिवर्तन तो होकर रहेगा। ❐

खेती–किसानी का गहराता संकट

सचिन कुमार

हाल में नाबार्ड की सर्वेक्षण रिपोर्ट के अनुसार गांवों में कुल आबादी की पूरी आमदनी का महज 23 प्रतिशत कृषि और पशुपालन से आता है। हमारे राष्ट्रीय जीडीपी कृषि का योगदान सिर्फ 17 प्रतिशत है जबकि लगभग दो तिहाई आबादी ग्रामीण क्षेत्रों में रहती है। ऐसे में मोदी सरकार द्वारा 2021–22 तक किसानों की आमदनी दोगुनी करने का वादा एक और जुमला ही साबित होगा जबतक कि खेती और किसानी में संरचनात्मक परिवर्तन नहीं लाये जाते हैं और कृषि के साथ–साथ ग्रामीण उद्यमिता के क्षेत्र में बड़ी पहलकदमी नहीं ली जाती। प्रस्तुत लेख खेती–किसानी में संपत्ति और उत्पादन सम्बन्धों के लोकतांत्रिकरण पर जोर देते हुए बड़े संरचनात्मक सवालों की पड़ताल करता है।

– संपादक

मध्य प्रदेश के मंदसौर में किसानों के आंदोलन और फिर उस पर पुलिस फायरिंग में किसानों की हत्या के बाद से किसानों का एजेंडा फिर चर्चा में है। उसके बाद से पूरे देश में किसानों के मोर्चे ने देश में किसानों के आंदोलन को एक नई दिशा देने की कोशिश की है। खुद को किसानों की हितैषी दिखाने के लिए कुछ पार्टियों ने कुछ राज्यों में कर्ज माफी की घोषणा की है, लेकिन यहां यह गौरतलब है कि इसका फायदा 10 फीसदी से भी कम किसानों को मिलेगा। ऐसे में खेती–किसानी के संकट को गहराई से समझने की जरुरत है।

खेती में संरचनात्मक बदलाव का एजेंडा

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के अधिकतर देश सीधे औपनिवेशिक बंधन से बाहर आ गए। यह वह दौर था, जब दुनिया के स्तर पर पुराने साम्राज्य का सूरज ढल रहा था और नयी ताकतों का उदय हो रहा था। यह सर्वविदित है कि दूसरे विश्वयुद्ध के बाद उपायों का प्रभाव दुनिया के स्तर पर बढ़ गया। इस तरह औपनिवेशिक बंधनों से मुक्त हुए देशों में भी राज्य के सामने सबसे प्रधान एजेंडा गरीबी को कम करना और आम लोगों की क्रय क्षमता में विस्तार करना था। ऐसे में कल्याणकारी राज्य सामने आया। इस दौर में राज्य का मुख्य जोर खेती की संरचना में बदलाव पर था, क्योंकि यहां के 80 फीसदी से अधिक लोग अपने जीवन–यापन के लिए पूरी तरह खेती पर निर्भर थे। इस योजना को हाथ में लिए जाने की एक वजह और भी थी। भारत के पड़ोस में चीन की जनता ने एक पिछड़े समाज में बदलाव के जरिए आम जनता में सुधार के लिए एक उत्साह पैदा कर दिया था। ऐसे में इस बात की भी गुंजाइश थी कि जनता में नीचे से ज्यादा दबाव न बढ़े। ऐसी हालत में ही भूमि संबंधी नीतियों के अमरीकी विशेषज्ञ वुल्फ लेडेजिन्सकी को बुलाया गया, जो उस समय जापान में भूमि संबंधी सुधारों पर काम कर रहे थे। लेकिन, जापान में भूमि के पुनर्वितरण की बात करनेवाले लेडेजिन्सकी ने भारत आते ही भूमि सुधार की बात करनी शुरू कर दी। उनका कहना था, 'इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि जल्दी या देर से वंचित लोग उन सरकारों और वर्गों की बर्बादी के लिए कानून अपनी हाथ में ले लेंगे, जिन्होंने उन्हें शांति से देने से वंचित रखा है। अब हिंसा ही उनका एकमात्र उपाय रह जाएगा।' ऐसे में तमाम नये स्वतंत्र देशों को सचेत होना ही था। भारत सरकार ने अपने प्रथम पंचवर्षीय योजना को खेती के विकास पर केंद्रित किया और इसके लिए दोहरा लक्ष्य अपने हाथ में लिया। योजना आयोग का कहना था कि 'भूमि सुधार का लक्ष्य दोहरा है। पहला, खेतिहर संरचना के चरित्र से उभरे खेतिहर उत्पादन के रास्ते के बाधाओं को दूर करना और दूसरा जितनी जल्दी संभव हो खेती में उच्च स्तर की दक्षता और उत्पादकता में विस्तार करना। ये सारे पहलू एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। भूमि सुधार के कुछ लक्ष्यों का सीधा संबंध पहले लक्ष्य

लेखक अर्थशास्त्र के शोधार्थी हैं। राजनीतिक-आर्थिक विषयों पर सक्रिय लेखन।

से है और अन्य का बड़े हद तक दूसरे लक्ष्य के साथ। इस तरह बिचौलियों का उन्मूलन और रैयतों का संरक्षण का मकसद खेतिहर व्यवस्था में जमीन जोतने वालों को भूमि पर उचित अधिकार दिलाना है ताकि वे उस बोझ से मुक्त हो सकें, जिसका सामना वे विगत में करते रहे हैं।' इस तरह शुरू में राज्य ने अपना एजेंडा भूमि सुधार के जरिए उत्पादन के साधनों के पुनर्वितरण पर रखा। लेकिन, इस निर्णय के बावजूद यह कई कारणों से जमीन पर लागू नहीं हो पाया। इसका मुख्य कारण यह था कि खुद राज्य की संरचना में ही कई वर्गीय अंतर्विरोध एक साथ काम कर रहे थे। इस प्रक्रिया के बारे में बात करते हुए भारत में गरीबी पर अपने अध्ययन में अतुल कोहली का कहना है, 'राज्य के भीतर निम्न वर्गीय हितों को संस्थागत करने की विफलता की वजह से भूमि सुधार विफल हुआ। यह मूलतः नेहरू शासन के अधीन ताकतवर राजनीतिक ताकतों की विफलता थी। कांग्रेस ने गांवों में जड़े तो जमायीं, लेकिन इसमें ग्रामीण संभ्रांत लोगों का ही प्रभुत्व था। इसका परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस न तो पार्टी को सीधा राजनीतिकरण और सामाजिक रूपांतरण के औजार के रूप में इस्तेमाल कर सकी और न ही सरकार और नौकरशाही के स्तर पर केंद्रीय नीतियों के पालन के लिए कोई माहौल बना सकी। निम्न वर्गों के हित को ध्यान में रखकर बनाई गई नीतियों को लागू करने के लिए एक सांगठनिक औजार की अनुपस्थिति में जमींदारों के वर्गीय सत्ता को चुनौती देने वाली कोई ताकत नहीं थी। इस तरह अनेकों कानूनों और नीतियों की परवाह किए बिना भूधारी वर्ग ने अपने हित के लिए राजनीतिक सत्ता के काम–काज को नहीं होने दिया और इस तरह भूमि सुधार महज एक छलावा ही बनकर रह गया।' भारत में घरेलू संपत्ति के बंटवारे पर एस. सुब्रह्मन्यम और डी. जेयराज द्वारा किया गया एक अध्ययन कहता है कि जमीन अभी भी ग्रामीण भारत में सत्ता और संपत्ति के प्रतीक के रुप में बरकरार है। ठीक इसी बात को दोहराते हुए एक अन्य अध्ययन कहता है कि जमीन भारत में अभी भी सत्ता और रुतबा के प्रतीक के रूप में है। ग्रामीण सत्ता संरचना में अभी भी जमीन के आकार का सीधा प्रभाव मौजूद है। यह एक ऐसा तबका है, जो गांव के सार्वजनिक जीवन से लेकर चुनाव और अन्य गतिविधियों में अपनी मजबूत हैसियत रखता है। सरकारी कर्ज, बीज और अन्य रियायतों पर अभी भी इसका पहला अधिकार बरकरार है। भूमि का अभी भी बड़े हद तक संकेन्द्रण बरकरार है। उपरोक्त अध्ययन का आकलन है कि ग्रामीण परिवारों के सबसे अमीर 14 फीसदी लोगों की कुल संपत्ति में जमीन की हिस्सेदारी करीब 73 फीसदी है, जबकि भवन और अन्य संपत्ति की हिस्सेदारी 15 फीसदी है। मशीनरी, औजार और वित्तीय परिसंपत्ति के रूप में उनकी संपत्ति काफी कम है। इसका मतलब है कि भूमि पर अभी भी ग्रामीण अमीरों का वर्चस्व है।

चीन के भूमि सुधार के अनुभव पर नजर डालें तब भूमि सुधार से पहले चीन में आठ हेक्टेयर से अधिक जमीन वालों को जमींदार की श्रेणी में रखा जाता था, जबकि 2.5 हेक्टेयर जमीन वाले लोगों को धनी किसान माना जाता था। चीन में किसानों के बीच वर्गीकरण का आधार महज भूमि का आकार नहीं था, बल्कि उत्पादन की व्यवस्था में उनकी भूमिका और उत्पादन के साधनों के साथ उनके संबंध से यह निर्धारित किया जाता था। अगर आज के भारत की तरह वहां बातें की जातीं, तब चीन में संभवतः जमीन का बहुत ही छोटे हिस्से को ही निकालना संभव हो पाता। इसके अलावा चीन में तमाम जमींदरों और धनी किसानों की जमीन के जब्त किया गया और फिर पुनर्बंटवारे में उनको भी उतना ही हिस्सा मिला, जितना अन्य लोगों को दिया गया। इसके अलावा, तीन साल तक आम जनता में भूमि आंदोलन का व्यापक प्रचार किया गया। इसकी वजह से भूमि सुधार आंदोलन आम जनता के आंदोलन में तब्दील हो गया। जुलाई, 1956 में भारत ने चीन में खेती सहकारिता और खेती की योजना के अध्ययन के लिए एक उच्च स्तरीय कमिटी भेजी। उस समिति की रिपोर्ट में कहा गया कि चीन में उल्लेखनीय प्रगति के पीछे मूल वजह ग्रामीण वर्गीय सत्ता संरचना में बदलाव है। भारत में ऐसे बदलाव के बिना उसकी तरह के परिणाम की अपेक्षा नहीं की जा सकती। ''खेतिहर सहकारिता के निर्माण के लिए एक ऐसा माहौल जरूरी है... जिसमें शोषण की गुंजाइश खत्म हो गई हो। ऐसे वातावरण के निर्माण के लिए भूमि सुधार बहुत ही महत्वपूर्ण है।''

भारत में भूमि सुधार कितना हद तक लागू हुआ है, इसे हम 1950 के दशक और आज के आंकड़े की तुलना से समझ सकते हैं। 1960 के दशक में आय के बंटवारे की स्थिति का आकलन करने के लिए प्रथम प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू द्वारा गठित महालोनेबिस कमिटी की रिपोर्ट के अनुसार, '1953–54 में ऊपर के एक फीसदी परिवारों के पास 17 फीसदी जमीन थी, जबकि पांच फीसदी परिवारों के पास 41 फीसदी जमीन। सबसे ऊपर के 10 फीसदी परिवारों के पास 58 फीसदी जमीन का हिस्सा था। 1959–60 में एक फीसदी परिवारों के पास 16 फीसदी, पांच फीसदी के पास 40 फीसदी, जबकि 10 फीसदी परिवारों के पास 56 फीसदी जमीन थी। नीचे के 20 फीसदी परिवारों के पास कोई जमीन नहीं थी। जमीन का बंटवारा अभी भी कितना असमान है, इसका अंदाजा हम 2013 के एनएसएसओ की रिपोर्ट से लगा सकते हैं। इसका कहना है कि 2.2 फीसदी परिवारों के पास 24.6 फीसदी भूमि का मालिकाना है, जबकि 7.2 फीसदी लोगों के पास 46.7 फीसदी जमीन है। हालांकि एनएसएसओ का आंकड़ा कृषि जनगणना के आंकड़े से काफी कम है। इसका मतलब है कि भूमि का असमान वितरण इससे काफी अधिक है। लेकिन, एनएसएसओ के आंकडों को भी आधार

मानें तब ऊपर के 10 फीसदी लोगों के पास 50 फीसदी से अधिक जमीन है, जबकि नीचे के 50 फीसदी से अधिक लोगों के पास मात्र 0.4 फीसदी जमीन है। इसी रिपोर्ट के अनुसार सीमांत और छोटे किसानों (2 हेक्टेयर से कम) को मिलाकर करीब 87 फीसदी किसान हैं और खेती से इनकी आमदनी इतनी कम है कि इससे इनका उपभोग खर्च भी पूरा नहीं होता, जबकि मध्यम और धनी किसानों (4–10हेक्टेयर) की आय खेती से सीमांत और छोटे किसानों की तुलना में 6.4 गुणा अधिक है। जबकि 10 हेक्टेयर से अधिक जमीन वाले किसानों की आय खेती से सीमांत और छोटे किसानों से 14.5 गुणा अधिक है। नवउदारवादी दौर में जमीन के केंद्रीयकरण का रुझान बढ़ा है और पहले की तुलना में ऊपर के 10 फीसदी लोगों के हिस्से जमीन की हिस्सेदारी बढ़ी है जबकि नीचे के 50 फीसदी लोगों के हिस्से जमीन की हिस्सेदारी में कमी आयी है।

नव उदारवादी दौर में खेती

1970 और खासकर नव उदारवादी दौर में सांस्थानिक बदलाव का एजेंडा पूरी तरह बदल गया और पूरा एजेंडा तकनीक और उत्पादकता पर शिफ्ट हो गया। सरकार ने कृषि विकास के लिए भूमि सुधार के एजेंडे को उत्पादकता के एजेंडे से बदल दिया है। इस सवाल पर गुर्नार मिर्डल ने पहले ही सावधान किया था, 'बेहतर बीज भी भूमि सुधारों की जगह नहीं ले सकेंगे। ... बेहतर बीजों और दूसरी उन्नत तकनीकों का फैलाव भी, तब तक ज्यादा नहीं होगा जब तक कि भूमि सुधार नहीं लागू कर दिया जाता। वास्तव में भूमि सुधार के बगैर उन्नत बीजों की उपलब्धता के फायदे को उठाकर कुछ दूसरे लोग भी उन वर्गों की जमात में शामिल हो जाएंगे जो देहात में पहले से असमानता को बढ़ा रहे हैं।' नव उदारवादी दौर में अर्थव्यवस्था के विकास का मूलमंत्र राजकोषीय घाटे को कम करना हो गया ताकि विदेशी पूंजी को खुश रखा जा सके। राजकोषीय घाटे को कम करने की नीति से भले ही विदेशी निवेशकर्ता खुश हों, लेकिन इसका खामियाजा घटती मांग के रूप में स्थानीय उत्पादकों को उठाना पड़ा है और किसान इस रणनीति का बुरी तरह शिकार हुए हैं। रघुराम राजन को काफी महिमामंडित किया गया है, लेकिन उनके राजकोषीय घाटे को कम रखने के लिए मुद्रा के विस्तार को कम रखने की नीति ने भी किसानों की समस्या को और बढ़ा दिया। इसकी वजह से 2016 के मध्य से ही कृषि उत्पादों के दाम में गिरावट आनी शुरू हो गयी थी। आठ नवंबर, 2016 के बाद नोटबंदी ने तो किसानों की और बुरी हालत कर दी और मांग में और कमी की वजह से कृषि उत्पादों के मूल्य में और गिरावट हो गई। इसी नीति का अनुसरण 1930 की मंदी के दौरान अंग्रेजों ने किया था, जिसकी वजह से मुद्रा तो मजबूत हुई, लेकिन किसानों के उत्पाद के मूल्य आधे से भी कम हो गए और लगान चुकाने के लिए उन्हें साहूकारों पर निर्भर होना पड़ा। अस्पेक्ट्स ऑफ इंडियाज इकोनॉमी में उद्धृत एक अध्ययन के अनुसार इन सब से भी जब किसान कर्ज और लगान चुकाने में विफल होने लगे तब उन्होंने अपनी जमा पूंजी, गहने और जेवरात बेचने शुरू किए। 1928–29 में जहां भारत 21 करोड़ रुपये के सोने का आयात कर रहा था, वहीं इसने 1932–33 में 65 करोड़ रुपये के सोने का निर्यात किया। 1932 से 1936 के बीच में ब्रिटिश सोने के भंडार में 162 फीसदी की बढ़ोतरी हो गई। इससे मुद्रास्फीति में तो लगातार कमी आयी है, लेकिन किसानों के उत्पादों के मूल्य न्यूनतम समर्थन मूल्य से भी बहुत नीचे चले गए हैं। पिछले दो सालों से किसानों की लागत में तो लगातार वृद्धि हो रही है, लेकिन उनकी फसलों के मूल्य मांग के अभाव में या तो स्थिर हैं या फिर गिर रहे हैं। औपनिवेशिक दौर में किसान सोना बेचकर अपना कर्जा चुका रहे थे। आज किसानों के पास कर्ज वापस करने का कोई साधन नहीं बचा है, इसलिए आत्महत्या कर रहे हैं।

किसानों का संकट

जब खेती की हालत ठीक–ठाक थी, तब भी एनएसएसओ के 70 वें दौर का आंकड़ा बताता है कि 2012–13 के बीच देश में औसत खेती के आकार वाले किसानों की कुल आय 6,426 रुपये प्रति महीने थी। इसमें से 2,071 रुपये वह मजदूरी से कमा रहा था, जबकि 512 रुपये गैर खेती के साधनों से कमा रहा था। बाकी खेती और पशुपालन से हो रहा था। इस तरह लगभग 70 फीसदी से अधिक किसानों की कुल आय उसके उपभोग खर्चे से भी कम थी। इस तरह ग्रामीण परिवारों का बड़ा हिस्सा कर्जे पर जी रहा है। इसे हम मार्क्सवादी लहजे में 'साधारण पुनर्उत्पादन' कह सकते हैं। हालांकि इसमें भी उत्पादन के पहले के स्तर के उत्पादन के लायक भी उनके पास अधिशेष नहीं बच रहा है। महज बड़े किसान ही कुछ बचा पाने की हालत में हैं। देश स्तर पर 4–10 हेक्टेयर वाले किसानों की आय 19,637 रुपये प्रति महीना है, जबकि 10 हेक्टेयर से अधिक जमीन वाले किसान की कुल मासिक आमदनी 33,017 रुपये है। इसका मतलब है कि महज धनी और बड़े किसान ही खेती से उपभोग खर्चों के अलावा कुछ बचत कर पाने की हालत में हैं।

चूंकि अधिकतर किसान अपना उपभोग खर्च भी पूरा कर पाने की हालत में नहीं हैं। ऐसे में उनमें से अधिकतर लोग कर्ज के बोझ से दबे हैं। एनएसएसओ के आंकड़े के अनुसार, देश में 2002–03 से 2012–13 के बीच कर्जदार किसानों की संख्या 48.6 फीसदी से बढ़कर 51.9 फीसदी हो गई है। कर्ज का हिस्सा 2002–03 में उनकी कुल आय का 49.6 फीसदी से बढ़कर 2012–13 में 61 फीसदी हो गया है। इसमें से अधिकतर छोटे

और सीमांत किसान महाजनी कर्ज में फंसे हुए हैं। खेती में दीर्घकाल के लिए बैंकों द्वारा दिए जाने वाले कर्जों में लगातार गिरावट हुई है। यह 1990–91 में 70 फीसदी से गिरकर 2011–12 में महज 40 फीसदी रह गया है। इसका मतलब है कि खेती में लंबी अवधि के लिए निवेश में इस दौर में भारी गिरावट दर्ज की गई है। 1971 में बैंकों के राष्ट्रीयकरण होने के बाद से 1991 में भूमंडलीकरण के शुरुआती दौर तक लगातार कर्जदार खेतिहरों के प्रतिशत में गिरावट आती रही। इस दौरान गैर सांस्थानिक स्रोतों से लिए गए कर्जों में भी गिरावट आती गई। 1991 के बाद से जब से बैंकों का ध्यान शहरों, कॉरपोरेट और व्यवसाय की तरफ हो गया, कर्जदार किसानों की संख्या में एक बार फिर से वृद्धि होने लगी और साहूकार सहित अन्य गैर सांस्थानिक स्रोत फिर से छोटे किसानों के कर्ज के मुख्य स्रोत बन गए। 2012–13 के एनएसएसओ के आंकड़ों से स्पष्ट है कि जिस तरह जोत का आकार छोटा होता गया है, कर्ज के लिए गैर सांस्थानिक स्रोत पर निर्भरता भी बढ़ती गयी है। अपेक्षाकृत बड़े किसान बैंकों से कर्ज ले पाने में सक्षम हो पा रहे हैं। बिहार में महाजनों का ब्याज दर पांच फीसदी प्रति महीना एकदम आम है। सीमांत किसानों में कर्ज लेनेवाले किसानों का करीब 72 फीसदी कर्जदाता महाजन हैं, जबकि गरीब किसानों ने अपने कर्ज का करीब 53 फीसदी जमींदार और महाजन से लिया हुआ है।

खेती में श्रमिकों की अधिकता

खेती की समस्या को हमेशा मुनाफे के नजरिए से देखा जा रहा है न कि जीवन के एक साधन के बतौर। ऐसे में समाधान यह होता है कि खेती बड़े हद तक अनुत्पादक हो गई है और येन–केन प्रकारेण इसमें लगे लोगों को बाहर निकालना है। यह सच ही है कि खेती में बड़े पैमाने पर छिपी हुई बेरोजगारी है, लेकिन खेती की समस्या का समाधान खेती और किसानों को अलग–अलग करके देखने से हल नहीं किया जा सकता। असल में खेती से अलग किए गए लोगों को बिना विकल्प दिए खेती से निकालने का मतलब उन्हें भूखों मरने के लिए बाजार के हवाले छोड़ देना है। यहां खेती ही उनके जीने का साधन है। रघुराम राजन का मानना था कि बाजार अर्थव्यवस्था को प्रभावी बनाने के लिए जरूरी है कि संसाधनों को बलपूर्वक या सहमति से अकुशल और न बरकरार रहने वाले क्षेत्र से बाहर निकाला जाए। नई आर्थिक संरचनाओं के निर्माण के लिए लघु इकाइयों और लघु खेती की बर्बादी जरूरी है। वे सरकार के लघु उद्योगों के प्रोत्साहन, निजी व्यवसायों का नियमन, मजदूरों की सुरक्षा वाले कानूनों और भूमि लीज से संबंधित कानूनों को इस 'संरचनात्मक बर्बादी' में बाधक मानते थे और रोजगार वृद्धि में कमी को जिम्मेवार मानते थे। वे वर्तमान लघु उद्योगों और लघु खेती को अपनी मौत मर जाने देने के हिमायती थे, चूंकि उनकी नजर में इनको समर्थन देना वित्त पर गैर जरूरी बोझ को बढ़ाना है। किसानों के वर्तमान संकट को इस सरकारी नजरिए से जोड़कर देखा जाना चाहिए।

जहां तक खेती से अनुत्पादक लोगों को निकालने का सवाल है तो इसी समय यह भी सवाल उठता है कि इनका आगे क्या होगा? अगर निर्माण उद्योग में रोजगार की हालत देखें तो जहां 1980 के दशक में कारखानों में प्रति इकाई श्रमिकों की संख्या 2000 के दशक के मुकाबले 4.5 गुणा ज्यादा थी। क्या किसानों को खेती से बाहर निकालना ही एकमात्र समाधान है? 2008 में विश्व बैंक की रिपोर्ट में सरकार को उलाहना दिया गया कि अब तक किसान कृषि से निकाले क्यों नहीं जा सके हैं। इस डेवेलपमेंट रिपोर्ट में कहा गया कि जमीन अयोग्य लोगों के हाथों में है, जमीनों का तेजी से अधिग्रहण किया जाए और लोगों को खेती से बाहर निकाला जाए। जो युवा खेती से जुड़े हैं, उन्हें औद्योगिक प्रशिक्षण दिया जाए। इसके बाद 2009 में तत्कालीन वित्त मंत्री पी. चिदंबरम ने उनकी सलाह को ईमानदारी से लागू करना शुरू किया और 1000 आइटीआई खोलने की मंजूरी दे दी। इससे स्पष्ट है कि विश्व बैंक और रघुराम राजन द्वारा प्रस्तावित इलाज पी चिदंबरम से शुरू होकर आज अपने उफान पर है और इसके साथ किसानों की आत्महत्याएं भी चरम पर हैं। सरकार भी चाहती है कि किसान बर्बाद हो जायें, चूंकि रघुराम राजन की भाषा में यह 'संरचनात्मक निर्माण' के लिए जरूरी है।

सवाल यह है कि क्या अब सच में लघु उद्योग और खेती इस अर्थव्यवस्था के लिए बेड़ी बन गए हैं और इन्हें नष्ट करना ही एकमात्र रास्ता है? नेहरू–महालोनेविस मॉडल में लघु उद्योगों के लिए पर्याप्त जगह दी गई थी। आखिर यह असफल क्यों हुआ? इसका बड़ा कारण यह था कि खेती में संपत्ति और उत्पादन संबंधों को लोकतांत्रिक बनाने का जो एजेंडा एकदम शुरू में लिया गया, वह सत्ता संबंधों की वजह से जमीन पर लागू नहीं किया जा सका। खेती में उत्पादित अधिशेष का बड़ा हिस्सा जमींदार, सूदखोर, व्यापारी, अधिकारी इत्यादि हड़प रहे हैं और इस तरह से यह किसानी अर्थव्यवस्था को बर्बाद कर रहा है। इसके अलावा यदि श्रम के नजरिए से देखा जाए तब खेती इस लिहाज से सबसे बड़ा क्षेत्र है और इसमें आधी से अधिक जनसंख्या निर्भर है। इसके अलावा इस लिहाज से लघु उद्योग भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। अगर खेती में उत्पादित अधिशेष को ही बिचौलियों से मुक्त कराया जाए तो यह अर्थवयवस्था में बड़े स्तर पर मांग में वृद्धि की क्षमता रखती है। खेती में सुधार लघु उद्योगों और अन्य उद्योगों के लिए मांग उपलब्ध करा सकता है और इस तरह खेती के लोगों के लिए खेती से बाहर रोजगार के अवसर भी

बढ़ाये जा सकते हैं। हां, यह सही बात है कि इससे निजी क्षेत्र को कोई खास फायदा नहीं होगा, बल्कि उनके लिए यह एक चिंता का विषय हो जाएगा। लेकिन, सरकार ने पिछले 25 साल से जो नीतियां अपनायीं हैं, वह किसानों के लिए न केवल बर्बादी ला रहा है, बल्कि उन्हें साहूकारों और जमींदारों के भरोसे छोड़ दिया है। इतना ही नहीं उन्हें जमीन से जबरिया बेदखल करके आदिम संचय का पुराना तरीका फिर से एक प्रधान तरीके में तब्दील होता जा रहा है। हाल के दिनों में किसानों के प्रतिरोध और आत्महत्या के दौर को हमें इसके साथ ही जोड़ कर देखना चाहिए।

खेती और कृषि व्यवसायी कंपनियां

भूस्वामी खेतों से बड़ी मात्रा में अधिशेष वसूलते हैं और फिर इसे बड़े पूंजीपतियों के हवाले करते हैं। इसका कारण यह है कि भूस्वामी उत्पादन के तमाम साधनों के आयात पर निर्भर हैं। इस तरह खेती से उत्पादित अधिशेष पूंजी के रूप में आयात–निर्यात उद्योग का एक औजार बनता है। इसी प्रकिया में साम्राज्यवादी ताकतें भी अपना हिस्सा ले जाती हैं। इस तरह जमींदार बड़ी पूंजी के एक सहयोगी के रूप में ही काम करते हैं। धनी किसान, ग्रामीण सूदखोर और वैसे जमींदार, जो कृषि उपकरणों के जरिए ग्रमीण अधिशेष हड़पते हैं, ग्रामीण इलाकों में अर्धसामंती शर्तों से जुड़े हैं। ग्रामीण इलाकों में इस तरह एक नए तरह के जमींदार पुराने जमींदारों की जगह ले रहे हैं, जो रोब–दाब में वैसे ही सामंती हैं। जहां तक खेती में तकनीक के विस्तार का सवाल है, तब हमें खेती में इस्तेमाल होने वाले तकनीक की भूमिका पर भी गौर करना चाहिए।

खेत में इस्तेमाल होने वाले रासायनिक उर्वरक से लेकर कीटनाशक तक का नियंत्रण दुनिया की मुट्ठी भर कंपनियां करती हैं और हम उनका आयात करते हैं। खेती में इस्तेमाल होने वाले अधिकतर तकनीक का भी यही हाल है। ऐसे में जितना अधिक तकनीक और कीटनाशक का इस्तेमाल हो रहा है, उसका फायदा वास्तव में बहुराष्ट्रीय कंपनियां को हो रहा है। इस तरह खेती में उत्पादित अधिशेष का एक बड़ा हिस्सा बहुराष्ट्रीय कंपनियां मार ले जा रही हैं। इस मामले में लेखक के साथ निजी बातचीत में पंजाब के एक किसान का कहना था कि अमरीका वालों ने पहले हमें अपने बीजों और कीटनाशकों के जरिए हमें खेती करना सिखाया और आज जब इन कीटनाशकों के इस्तेमाल से हमारे जमीन के अंदर का पानी जहरीला हो गया है, तो इससे बचाव के लिए आरओ भी वही लगा रहे हैं। किसान की यह बात खेती में तकनीक की दोहरी भूमिका के चरित्र को स्पष्ट कर देता है। एक तरफ जब किसानों की आत्महत्या के आंकड़ों में रोज वृद्धि हो रही है तो दूसरी तरफ खेती से जुड़ी तकनीक उपलब्ध कराने वाली कंपनियों का मुनाफा रोज बढ़ता जा रहा है। 18 जून को दैनिक भास्कर की एक खबर के अनुसार, रासायनिक खाद की तीन सबसे बड़ी कंपनियों को 2016–17 के दौरान 1256.23 करोड़ का शुद्ध लाभ हुआ। यह उनके पिछले साल के लाभ की तुलना में 37. 45 फीसदी ज्यादा था। यहां यह गौरतलब है कि इन कंपनियों को सरकारी सब्सिडी भी मिलती है। इस वर्ष बजट ने इसके लिए 70 हजार करोड़ का प्रावधान किया था। तीन सबसे बड़ी कीटनाशक कंपनियों नें 2016–17 में 895.89 करोड़ का मुनाफा कमाया। यह उनकी पिछली वर्ष की आमदनी से 22.8 फीसदी अधिक था। इसी दौरान ट्रैक्टर की तीन प्रमुख कंपनियों को 5300 करोड़ का मुनाफा हुआ। यह इनकी पिछले साल की आय का 17 फीसदी अधिक है। इसी तरह बीज के कारोबार में भी भारी मुनाफा हो रहा है। इस तरह खेती में तकनीक का बढ़ता इस्तेमाल हमेशा केवल खेती में विकास को ही नहीं दिखाता है, बल्कि इसका दोहरा चरित्र है और हमें ध्यान रखना चाहिए कि भारत जैसे तकनीक के आयातक देश में यह कौन–सी प्रधान भूमिका निभा रही है।

तीसरी दुनिया के देशों में कृषि का मशीनीकरण महज खेती के विकास के लिए ही नहीं था, बल्कि यह तकनीकी प्रदाताओं की अपनी एक खास रणनीति थी। देविंदर शर्मा के अनुसार, चंडीगढ़ के इंस्टीट्यूट ऑफ डेवेलपमेंट एंड कम्यूनिकेशन के प्रोफेसर एच. एस. शेरेगिल ने मशीनीकरण के आधार पर पंजाब के कृषि की तुलना विकसित देशों की खेती के मशीनीकरण से की। इससे मालूम हुआ कि पंजाब में प्रति 1000 हेक्टेयर 122 ट्रैक्टर थे जबकि अमरीका में 22, इंगलैंड में 76 और जर्मनी में मात्र 65 ट्रैक्टर थे। इसी तरह उर्वरक के मामले में पंजाब में प्रति हेक्टेयर प्रति वर्ष 448 किलो उर्वरक इस्तेमाल हो रहा है, जबकि अमरीका में 103 किलोग्राम, इंगलैंड में 208 किलोग्राम और जापान में 278 किलोग्राम उर्वरक का इस्तेमाल हो रहा है। यहां यह गौरतलब है कि पंजाब में 98 फीसदी जोत भूमि सिंचित है, जो अमरीका से 11.4 फीसदी, इंगलैंड से 2 फीसदी और जापान से 35 फीसदी अधिक है। इसका मतलब यह है कि पंजाब में ट्रैक्टर महज उत्पादन के तकनीक के रूप में इस्तेमाल नहीं हो रहा है, बल्कि यह रुतबे का भी प्रतीक बन गया है। ऐसे में यह समझना मुश्किल नहीं है कि असल में इस मशीनीकरण और रासायनिकरण का सबसे ज्यादा फायदा किसे मिल रहा है। इस तरह आयात आधारित देश में इस आयातित तकनीक के जरिए किसानों का अधिशेष उत्पादक गतिविधियों के पुनर्विस्तार और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को मजबूत करने के बजाए आयात–निर्यात उद्योग का ही एक औजार बनकर रह जा रहा है।

इस तरह खेती–किसानी को बेहतर बनाने का सवाल वास्तव में राजनीति और राजनीतिक सत्ता का सवाल है। इसका जनवादीकरण किए बगैर इसका कोई भी मुक्कमल समाधान संभव नहीं है। ❐

दीना–भद्री : रामकथा का सबाल्टर्न पाठ

हसन इमाम

बिहार के विभिन्न अंचलों में रेशमा–चौहरमल, नैका बंजारा, हरवा चनैन, सलहेस, लोरिक विजय, बुलाकी गोप आदि कई लोकगाथाएं प्रचलित हैं। मुसहरों के बीच मिथिला में दीना–भद्री और मगध में तुलसीवीर–दुलारवीर तथा नादोवीर बसहिया लोक नाट्य काफी लोकप्रिय हैं। दीना–भद्री की कहानी मुसहरों की सामाजिक स्थिति और उनके संघर्ष की यथार्थपरक तस्वीर पेश करती है। यह जाति शिकार तथा फलसंग्रह कर जीवनयापन करती थी । इन्हें बलपूर्वक भूदास के रूप में कृषि व्यवस्था के साथ जोड़ा गया। दीना–भद्री की कथा बलपूर्वक संपन्न की जानेवाली इस प्रक्रिया के प्रतिकार से, उसके खिलाफ विद्रोह से शुरू होती है । वे मारे जाते हैं । लेकिन यह मृत्यु तो प्रतीकात्मक है –उनकी लड़ाई तो मरने के बाद भी जारी रहती है और जमींदार के मारे जाने के साथ समाप्त होती है। प्रस्तुत लेख में दीना–भद्री के मूल पाठ से अलग एक नए पाठ का विवरण है जिसमें दीना–भद्री राम–लक्ष्मण के अवतार और उनकी मां निरसो को सबरी के रूप में चित्रित किया गया है। दीना–भद्री की कहानी में इन हिन्दू मिथकीय पात्रों का प्रवेश मुसहर समुदाय द्वारा खुद को मुख्यधारा और उसके तथाकथित गौरवशाली अतीत से जुड़ने की आकांक्षा को प्रदर्शित करता है। यह महज संयोग नहीं है कि मुसहर समाज से आनेवाले माउंटेनमैन दशरथ मांझी अपने जीवन के संध्याकाल में वजीरगंज में सबरी माता मंदिर स्थापित करने के लिए प्रयासरत थे। यहां उल्लेख करना जरूरी है कि मूल पाठ से इतर इस तरह के पाठ हिन्दुत्व की शक्तियों को यह मौका प्रदान करते हैं कि वे इनकी कहानियों और नायकों को अपने बृहतर पाठ का हिस्सा न बना लें। बहरहाल, प्रस्तुत है हसन इमाम की कलम से दीना–भद्री के नए पाठ का एक रोचक विश्लेषण। –संपादक

लेखक रंगकर्मी हैं। इनकी कई शोधपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित हैं।

दीना–भद्री बिहार के पूर्वांचल, खासकर नेपाल से सटे इलाके के मुसहरों के बीच लोकप्रिय लोकगाथा है, लोकनाट्य है। अभिवंचितों की सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों पर शोध–अध्ययन के क्रम में सुपौल जिला के हरदी गांव में दीना–भद्री की नाट्य प्रस्तुति देखते हुए मैं इस लोकनाट्य के गहरे संदर्भों से अवगत हुआ जो आपसे साझा कर रहा हूं। नाट्य प्रस्तुति की समाप्ति के पश्चात् जब मैं इसके कथा–शिल्प की पड़ताल में गया तो पाया कि दीना और भद्री की वेशभूषा, हाव–भाव राम–लक्ष्मण की तरह पिरोया हुआ है। मैंने टीम से इसके बारे में पूछा तो सबसे सीनियर कलाकार ने भावपूर्ण अंदाज में बताया – दीना–भद्री बाबा, राम और लक्ष्मण ही तो हैं। सो कैसे? मेरी जिज्ञासा चरम पर थी। उन्होंने कथा–वाचना शुरू किया : रामकथा की पुनर्रचना, पुनर्प्रस्तुति आरंभ हुई।

'शूद्र कुल उत्पन्न' सबरी ने जब राम को जूठे बैर खिलाये तो खुश होकर भगवान राम ने सबरी से कहा, मांगों क्या मांगती हो। सबरी ने न तो धन–दौलत मांगा, न स्वर्ग, न मोक्ष। बस अपनी कोख से राम–लक्ष्मण को जनमने का आग्रह कर डाला। भगवान राम ने इसे मंजूर किया और राम–लक्ष्मण दोनों भाई दीना और भद्री के रूप में निरसो (सबरी) की कोख से जन्म लिए, मुसहर घर में।' एक ही सांस में पूरी दार्शनिकता के साथ 'रामकथा' के इस विस्तार से मैं अचंभित था।

वाल्मिकी, भवभूति, तुलसी, निराला और गांधी के राम से भी विराट दीना और भद्री की कथा में पुनर्सृजित राम के चरित्र विस्तार से, रामकथा के इस नए पाठ से। थोड़ी देर के लिए मैं प्रचलित यांत्रिक व्याख्या की गिरफ्त में आते हुए इसे शास्त्रीय पात्रों का अंध–ग्रहण प्रक्रिया मान बैठा, लेकिन दीना–भद्री के कथानक से गुजरते ही मेरी वह धारणा सांस्कृतिक प्रतिरोध पर 'Every Day Resistant' में दर्ज जेम्स स्कॉट की वैचारिक प्रतिस्थापना के स्मरण से ध्वस्त हो गई। जेम्स स्कॉट

लिखते हैं 'अमीरों और गरीबों के बीच का संघर्ष सिर्फ काम, संपत्ति के अधिकार, अनाज और नगदी के लिए नहीं है। यह प्रतीकों के विनियोग (Appropriation of Symbols) का भी संघर्ष है। कारणों को चिह्नित करने एवं आरोपों के आकलन का संघर्ष है, स्थानीय इतिहास को समर्थित अर्थ देने का प्रतिरोधात्मक प्रयास है।'

राम कथा के इस दलित पाठ 'दीना–भद्री' के कथा संसार में जाने से पहले इस बात की याद दिलाता चलूं कि 'रामायण, महाभारत आदि महाकाव्यों ने लोक कथाओं से ही उपकरण लेकर अपने स्वरूप ग्रहण किए हैं। उन्हीं से सामग्री लेकर संस्कृत के अनेक महाकाव्यों और नाटकों आदि की रचना हुई है। उस उदार लोकमानस के लिए जिसने मुक्त हस्त अपना उपहार देकर शिष्ट साहित्य के कोष को भरा है। यह अस्वाभाविक और असंगत नहीं है कि उसने भी कभी–कभी शिष्ट गीतों को अपने स्वरों में गाया और शिष्ट कथाओं में अपनी अनुभूतियां और मान्यताएं मिलाकर उन्हें अपना बना लिया' ('मुंडा लोककथाएं' पुस्तक में लेखक जगदीश त्रिगुणायत' के विचार)। तो चलिए 'दीना–भद्री' का वाचन प्रारंभ हो।' सबरी इस जनम में निरसों के रूप में आयी, सबरी मुसहरनी। पिछले जनम में भी सबरी शूद्र कुल में ही थीं, तुलसीदास की रामकथा में। यानि सबरी की सामाजिक हैसियत जस की तस रही। आपको सबरी से शिकायत हो सकती है। भगवान से मांगी भी तो क्या। खुद को ही द्विज जाति में जनमने का वरदान मांग लेती। खुद भी ब्राह्मणी हो जाती और राम–लक्ष्मण को जन्म देकर आर्यमाता कहला लेती, मोक्ष पा लेती, कइयों ने इसी तरह मोक्ष पाया आदि–आदि। लेकिन राम को पुनर्सृजित करने वाले मुसहर काव्यकारों की चेतना में कुछ और ही है। वह तो 'राम' को ही एक दलित परिवार में जनमने की आकांक्षा पालता है। भगवान को ही अपनी कोख–से–जन्म देकर सबरी पुरुषसूक्त की परामानवीय अवधारणा को मटियामेट कर देना चाहती है; कौन कहता है कि ब्रह्मा के पैर से शूद्र की उत्पत्ति हुई। मिथ्या है यह। सच तो यह है कि स्वयं विष्णु के अवतार मर्यादा पुरुषोत्तम राम मेरी कोख से जन्म लिए। यह एक मां की कोख है, क्या फर्क पड़ता है कि मां काली है, उसको तन ढकने भर ही कपड़ा है, उसे मुसहरनी कहा जाता है, वह मजदूरन है। देखो, भगवान मेरी कोख से जनम लिए। अब यह मिथ्या प्रचार मत करना कि मैं सबरी, निरसो भगवान के पैर से उत्पन्न हुई हूं। निरसो की कोख से राम और लक्ष्मण का दीना–भद्री के रूप में जनमना दलित–मुक्ति की आकांक्षा की ऐतिहासिक उद्‌घोषणा है कि 'हमारा मुक्तिदाता, हमारा उद्धारक, हमारा नायक, हमारा भगवान हमारे बीच से ही जन्म लेगा, सो ले लिया। तो जोर से बोलिये, बाबा दीना–भद्री की जय!

एक सै एकैस घर मुसहर बसैत अछि उरसी डीह ।
एक सरदार रतन मोती सरदार ।
ठेहनी धैनें जाइत अछि उरसिक डीह ।
बूढ़ि बूढ़ि मुसहरनी मुंह दुसि लेलक कालू सदा के ।।
समरथ समरथ मुसहरनी कालू सदा देखि मारैत अछि ठहक्का
कौनो मुसहर ने घर से होइत अछि बाहिर ।
कालू सदा कनैत कनैत ऐलक जोगिया क गाम ।
कोंचा झुनकी देख बड़ अजगुत ।
सरवां झुनकी ढकना झुनकी खोइंछा झुनकी ।।
खोपा झुनकी ऊखरि झुनकी मूसर झुनकी ।
सूपा झुनकी चालनि झुनकी खुरपी झुनकी ।
हांसू झुनकी बसुली झुनकी ।
काजर सिन्दुर सिंगार कएलक ।
जो जीबैत छलाह दीना भद्री जोगिआ नगर ।।
कौनो मुसहरनी नहिं कएलक सिंगार ।
हमरा मुइने एक उरसी भेल उद्‌गार ।
कालू बबा के कनबे धार बहि जाय ।
अम्मा निरसो कनबे बिरिछ झरि गेल ।
रजना बुधना के कनबे कनै जोगिया क बेटा पुतोहु ।।
दीना भद्री क नैन्हि जोगिआ दोस्त महिम
सात दिन सात राति बीतल कटैया खाय
केओ नहिं आयल मोर गोहार
ककरा दे के जोगिआ जांजरि भेजब समाद ।।

(मिथिला में प्रचलित एक लोकगीत में दीना–भद्री का इंतजार करता उनका गांव उरसीडीह)

कंधे पर अस्सी मन का धनुष और चौरासी मन का तीर लटकाए राम–लक्ष्मण के इन नये अवतारों, दीना–भद्री को जोगियानगर के राजा कनकधामी से भिड़ंत होती है। कनकधामी जोगियानगर के वासियों से जबरन बेगारी करवाता था। वह दीना–भद्री को भी अपने खेत में बेगारी करने का हुक्म देता है। दीना–भद्री न केवल उसका हुक्म मानने से इनकार करते हैं बल्कि उसकी पिटाई कर देते हैं। इतना ही नहीं कनकधामी ने गांव की पोखर में एक पनियादराज छोड़ रखा था जो पोखर में पानी पीने जाने वाले जानवरों को खा जाता था। दीना–भद्री उस पनियादराज को मारते हैं और गांव वालों के पशुओं को सुरक्षित करते हैं। उन्हें पता चलता है कि पास के कुनौली बाजार का जमींदार जोरावर सिंह 700 मुसहर परिवारों पर आए दिन जुल्म अत्याचार कर रहा है। वह उन 700 मुसहर परिवारों से बेगारी करवाता है और मजदूरी मांगने पर उनपर अत्याचार करता है। महिलाओं, बच्चों और बूढ़ों तक को नहीं बकसता है।

दीना–भद्री जोरावर सिंह के इस जुल्म और अत्याचार के

खिलाफ मुसहरों को संगठित करते हैं और जोरावर सिंह को मौत के घाट उतार देते हैं। 700 मुसहर परिवारों को शोषण और अत्याचार से मुक्ति दिलाते हैं। कथानक में आता है कि मुम्बई शहर में एक जमींदार द्वारा बंधक बनाए गए मुसहर मजदूरों को मुक्त कराने दोनों भाई मुम्बई शहर तक पहुंच जाते हैं। कुनौली बाजार के ठग बनिया रूपचनवा को भी वे सजा देते हैं। कुल मिलाकर इस बार राम और लक्ष्मण मोक्षदाता नहीं हैं, मुक्तिदाता हैं। सांसारिक विषयों की जकड़न से आत्मा को आजाद करा देने वाली दिव्य शक्ति नहीं बल्कि अपने आस–पास की दुनियां की विसंगतियों से मुठभेड़ करने वाले योद्धा हैं। गैर–बराबरी वाले सामाजिक–आर्थिक संबंधों को ध्वस्त करने वाले नायक हैं।

निरसो (सबरी) की कोख से जनमे राम मंदिरों में दलितों के प्रवेश पर लगे प्रतिबंध के खिलाफ भी खड़े दिखाई देते हैं। कथानक में आता है कि दीना और भद्री जगन्नाथपुरी के मंदिर में भगवान के दर्शन को पहुंचते हैं। मंदिर का पुजारी उन्हें मंदिर प्रवेश की अनुमति नहीं देता है। दलित कहकर भगा देता है। दीना और भद्री सात दिन–सात रात भूखे प्यासे वहां रहते हैं और रोज पुरोहित से भगवान का दर्शन करने मंदिर में जाने की अनुमति के लिए गुहार लगाते हैं। पुरोहित हर बार डांट फटकार कर भगा देता है। कथा में आगे जो प्रसंग आता है वह सबसे महत्वपूर्ण है। सात–दिन, सात रात तक मंदिर के बाहर ही भूखे–प्यासे पड़े रहने, मंदिर में प्रवेश की अनुमति के लिए पुरोहित से रोज–रोज गुहार लगाने के बाद अंततः दीना–भद्री दोनों भाई मंदिर के स्तंभों को पकड़कर जोर से हिलाते हैं। मंदिर हिलने लगता है... अब गिरा कि तब। अफरा–तफरी मच जाती है। भगवान जगन्नाथ स्वयं बाहर आते हैं और दीना–भद्री को दर्शन देते हैं। यह उस चेतना का प्रतिनिधित्व कर जाता है कि हमारा 'राम' मंदिरों में हमारे प्रवेश पर लगे प्रतिबंधों की मुखालफत ही नहीं करेगा बल्कि तमाम तरह की गैर–बराबरी को जन्म देने वाले संस्थागत धर्म को ध्वस्त करेगा। दीना–भद्री लोकनाट्य में, दीना–भद्री द्वारा, मंदिर में प्रवेश की अनुमति नहीं मिलने पर जगन्नाथ मंदिर को छाती के बल हिलाने वाले प्रसंग में जो प्रतिरोधी चेतना उभरती है वह डॉ. बाबा साहब भीमराव आंबेडकर द्वारा मनुस्मृति को अस्पृश्यता एवं अन्य जातीय शोषण का वैचारिक स्रोत मानकर 1927 में उसकी प्रतियां जलाने में देखी जा सकती है। दीना और भद्री के रूप में मुसहरों के बीच जन्मे राम और लक्ष्मण इस कथा में राजा कनकधामी द्वारा साजिश के तहत मार दिए जाते हैं। यहां राम से मृत्युलोक में लीला–अवधि की समाप्ति की याद दिलाते स्वर्गलोक में लौट आने का आग्रह नहीं है। बल्कि मृत्युलोक में ही जीवन की विसंगतियों से टकराते, उससे गुत्थम गुत्थी करते जीवन के अंत की उद्घोषणा है।

कुल मिलाकर दीना–भद्री लोकनाट्य में दो संसार एक साथ चलते हैं– एक संसार वास्तविक है दूसरा स्वप्निल। वास्तविक और स्वप्निल संसार के बीच का द्वन्द्व इसके रचनातंत्र की बुनियाद है। स्वप्निल विम्बों के माध्यम से वह सब हासिल कर लेने की चाहत है, छटपटाहट है, जिद है जो वास्तविक जीवन में संभव नहीं हो रहा है। मुसहर जाति के यथार्थ और आकांक्षा के बीच से जन्मी यह कथा पूरी दलित जाति के रोजमर्रे के संघर्ष का प्रतिनिधित्व करती है। बहिष्करण के वैचारिक आधार को ध्वस्त कर देने की उनकी आकांक्षाओं का भी। अगर हमसे तुम्हारा मंदिर और तुम्हारा भगवान अपवित्र हो जाता है तो हम अपना भगवान स्वयं गढ़ लेंगे। वह भगवान हमारे बीच जन्म लेगा, झोपड़ी में। वह लीला नहीं करेगा, वह हमारे सवाल पर लड़ेगा। तमाम तरह की दासता के खिलाफ संघर्ष में हमारा नेतृत्व करेगा। वह तुम्हारे उस वैचारिक तंत्र को ध्वस्त करेगा जो जीवन की विसंगतियों एवं तमाम तरह के शोषण और अत्याचार के लिए गैर–मानवीय शक्तियों के वजूद का भ्रमजाल पैदा करता है।

जोरावर सिंह सामंत को मारने के बाद दीना और भद्री के साथ मुसहरों की पूरी जमात का यह उद्गार :

"मन से अब राज करबै, कुनौली बजरिया में
आ मन से राज करबै, कुनौली बजरिया में न हय।"

आर्थिक और राजनीतिक सत्ता पर मेहनतकशों के काबिज होने की आकांक्षा, सपना और उसके लिए सतत संघर्ष की अपील कर जाता है। इस कथा में दीना–भद्री के रूप पुनर्सृजित राम–लक्ष्मण को मुसहर समुदाय सामाजिक शोषण के आधार संस्थागत धर्म व्यवस्था एवं आर्थिक शोषण को बढ़ावा देने वाली राजनीतिक व्यवस्था को खत्म कर मेहनतकशों के पक्ष वाली व्यवस्था की स्थापना के नायक के रूप में देखते हैं।

वास्तव में दीना–भद्री कथा में अतीत से निरंतरता भी है और वर्तमान पर तीखी प्रतिक्रिया भी, उसकी प्रतिरोधी आलोचनात्मक व्याख्या भी। इस नई राम–कथा से गुजरते हुए अंतर्विरोधी चेतना की ग्राम्शी की अवधारणा की अनायास याद आ जाती है– 'भले बीज रूप से ही हो, मजदूर वर्ग की दुनिया की अपनी ही कल्पना होती है। यह चेतना अभिव्यक्तियों के रूप में सामने आती है। शासक वर्ग का सांस्कृतिक वर्चस्व, इस बीज रूप कल्पना को नष्ट करने की नहीं, पर दबाने तथा काबू पाने की कोशिश जरूर करता है। इसलिए जरूरत ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करने की है जिसमें आम आदमी की दुनिया की यह बीज रूप कल्पना बढ़ सके और फल–फूल सके जिसमें उसकी ऐतिहासिक नियति समायी रहती है। दूसरे शब्दों में उसे वर्चस्वशाली संस्कृति से निकाला जाए ताकि वह नैतिक तथा राजनैतिक निष्क्रियता से उबरने में समर्थ हो सके।'

❐

नई सांस्कृतिक–साहित्यिक दृष्टि की प्रस्तावना

डॉ. एस. सिद्धार्थ

भारतीय समाज, संस्कृति, साहित्य, मिथक और इतिहास के पुनर्पाठ और प्रतिपाठ का उपक्रम हजारों वर्षों से चला आ रहा है। वैदिक– अवैदिक, आर्य– अनार्य और अन्य विभिन्न पाठों, पुनर्पाठों और प्रतिपाठों की लंबी प्रक्रिया रही है। औपनिवेशिक कालावधि में यह प्रक्रिया बहुत तीव्र हो गई। राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के दौरान विविध विचार सारणियों और हितों के आधार पर नए सिरे से भारतीय समाज, इतिहास और भविष्य को लेकर तीखे विमर्श शुरू हो गए। इन विमर्शों का प्रयोजन यथार्थ की समझ कायम करने से ज्यादा विभिन्न वर्गों, समुदायों और सम्प्रदायों के हितों की रक्षा करना और उन हितों के इर्द–गिर्द लामबंदी करना था। इन दृष्टियों को आमतौर पर औपनिवेशिक, राष्ट्रवादी, उदारवादी, वामपंथी और वर्णजाति/ब्राह्मणवाद विरोधी (दलित दृष्टि) दृष्टियों के रूप में जाना जाता है, इसके साथ ही खुले और छद्‌म रूप मे हिन्दू राष्ट्र की स्थापना के नाम पर ब्राह्मणवाद/मनुवाद की पुर्नस्थापना की भी पुरजोर कोशिश हो रही थी। सतह पर दिखने वाली इन विचार सारणियों के वास्तविक अन्तर्य भी वह नहीं थे, जो उनकी संज्ञाओं से परिलक्षित होते हैं। आज यह जग–जाहिर सत्य है कि न केवल राष्ट्रवादी, उदारवादी (गांधीवादी), वामपंथी दृष्टि भी अपने भीतर गहरे स्तर पर, अपने नाभिकीय तत्वों के रूप में ब्राह्मणवाद और जातिवादी पितृसत्ता को समहित किए हुए थी।

लेखक फारवर्ड प्रेस के संपादक हैं। इन्होंने अनेक पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद किया है।

फूले, पेरियार और आंबेडकर की परंपरा ने इन सभी दृष्टियों के भीतर दृश्य–अदृश्य रूप में अस्तित्वमान वर्ण जातिवादी, ब्राह्मणवादी, द्विज और पितृसत्ता की उपस्थिति को चिह्नित किया और इनके शूद्र, अतिशूद्र और स्त्री विरोधी चरित्र का तीखा प्रत्याख्यान और प्रतिरोध किया। राष्ट्रीय मुक्ति–आंदोलन के दौरान शूद्रों–अतिशूद्रों के आंदोलन का मुख्य शत्रु ब्राह्मणवाद था, जो उनके हजारों वर्षों की अपमान, उपेक्षा, अवमानना, दासता, उत्पीड़न और शोषण का कारण था। ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता की समाप्ति के बाद के राजनीतिक, आर्थिक और इससे उपजे एक हद के, सामाजिक–सांस्कृति परिवर्तनों ने धीरे–धीरे शूद्रों (अन्य पिछड़ा वर्गों/ओबीसी) और अति शूद्रों के आंदोलन के बीच गहरी विभाजक रेखा खींच दी। अति शूद्रों (अन्त्यजों/एससी) का आंदोलन दलित आंदोलन के रूप में अपने को स्थापित किया। शूद्रों (ओबीसी) की गोलबंदी राजनीतिक भागीदारी और ज्यादा से ज्यादा सामाजिक न्याय तक सीमित होकर रह गई। सांस्कृतिक मूल्य के तौर इस वर्ग का ब्राह्मणवाद से संघर्ष धुंधला पड़ गया या हाशिए पर डाल दिया गया या ओबीसी की अगड़ी जातियों ने पूरी तरह से सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्य के तौर पर ब्राह्मणवाद और ब्राह्मणवादी पितृसत्ता को गले लगा लिया। इस प्रक्रिया के साथ ही ब्राह्मणवाद विरोधी आदोलन दलित आंदोलन तक सीमित होकर रह गया, लेकिन पिछड़ा वर्ग के कुछ हिस्से और व्यक्ति पिछड़े वर्गों का स्वतंत्र सांस्कृतिक–साहित्यिक आंदोलन खड़ा करने की कोशिश कर रहे हैं। अभी हाल (2016) में आए तीन संकलन– 'बहुजन साहित्य की प्रस्तावना' (संपादक– प्रमोद रंजन/आयवन कोस्का), 'हिन्दी साहित्येतिहास का बहुजन पक्ष' (संपादक– प्रमोद रंजन) और 'महिषासुर एक जननायक' (संपादक– प्रमोद रंजन) – बहुजन

साहित्यिक–सांस्कृति आंदोलन की प्रस्तावना और अवधारणा को सामने रखते हैं और इसे पल्लवित–पुष्पित तथा विकसित करने का पुरजोर आग्रह करते हैं तथा इसे भारत के बहुसंख्यक समाज के बेहतर भविष्य हेतु अपरिहार्य और अनिवार्य मानते हैं।

क्या है बहुजन साहित्य, भारतीय समाज के किस तबके का यह प्रतिनिधित्व करता है? किस संस्कृति–साहित्य, मूल्यव्यवस्था, संस्कार, परंपरा और समाज व्यवस्था की यह मुखालफत करता है और इसके बरक्स किन चीजों की स्थापना करना चाहता है तथा इसकी वैचारिकी क्या है और अतीत की किन परंपराओं से यह अपना नाता जोड़ना चाहता है और किसे खारिज करता है? इन प्रश्नों का उत्तर देने की कोशिश ये संकलन करते हैं। चूंकि ये संकलन किसी एक व्यक्ति–विशेष की लिखी हुई एक पुस्तक नहीं है बल्कि विभिन्न व्यक्तियों के लेखों का संग्रह है और ये व्यक्ति भी भिन्न–भिन्न धारणाएं रखते हैं, अलग–अलग सामाजिक पृष्ठभूमियों के हैं। स्वाभाविक है कि इन विविध लेखों के बीच अन्तर्विरोध, असंगति और कुछ मामलों में तीखी टकराहटें और असहमतियां मौजूद हों। इसका निहितार्थ यह नहीं है कि समग्रता में इनके बीच से सहमति का कोई स्वर नहीं निकलता है, कुछ मूलभूत बिन्दुओं पर सहमति का स्वर मौजूद है। बहुजन साहित्य की अवधारणा के संदर्भ में संपादक प्रमोद रंजन की अवधारणा पूरी तरह से स्पष्ट है। उन्होंने साफ शब्दों में लिखा है कि 'बहुजन साहित्य की अवधारणा अपने आप में एकदम सीधी है– अभिजन के विपरीत बहुजन का साहित्य। जैसा कि ढ़ाई हजार साल पहले बुद्ध ने कहा था– बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय'। आगे वे स्पष्ट करते हैं कि 'बहुजन साहित्य बहुसंख्यकों का साहित्य जरूर है, लेकिन यह बहुसंख्यकवाद का साहित्य नहीं है। इसका आधार संख्याबल नहीं, बल्कि इसके विपरीत सामाजिक और सांस्कृतिक वंचना के पक्ष में जिस सामूहिक–सामुदायिक चेतना का निर्माण मनुवाद करता है, बहुजन साहित्य उसके विरुद्ध विभिन्न सामाजिक तबकों की आवाज है। यह साहित्य उस अंतिम आदमी का साहित्य है जो किसी भी प्रकार की वंचना झेल रहा है। यह न सिर्फ आर्थिक वंचना और अस्पृश्यता के सवाल को उठाता है, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक रूपों को भी चिन्हित करता है, तथा उसे भी उतना ही महत्वपूर्ण मानता है'। संपादक किसी भी प्रकार की अस्पष्टता को दूर करने के लिए आज के वंचित तबकों को चिह्नित करते हुए कहते हैं कि 'आज के भारतीय परिप्रेक्ष्य में वंचित तबके हैं– स्त्रियां, अनसूचित जातियां, अनुसूचित जनजातियां, अन्य पिछड़ा वर्ग, विमुक्त घूमंतू जातियां व सभी पसमांदा धार्मिक अल्पसंख्यक। बहुजन साहित्य की अवधारणा इन सभी की पीड़ाओं में समानता देखती है और इनके शोषण के कारणों को कमोवेश समान पाती है। इनकी पीड़ाओं के मुख्य कारणों को एक शब्द में व्यक्त करना हो, तो निःसंकोच कहा जा सकता है कि वह कारण मनुवाद है'। बहुजन साहित्य की इस अवधारणा और भारतीय जनता के बहुसंख्यक हिस्से के संदर्भ में इसकी अनिवार्यता, अपरिहार्यता और उपयोगिता से शायद ही कोई इनकार कर पाए। एक और कारण से इस अवधारणा की उपयोगिता और बढ़ जाती है – वह यह कि वर्ग और वर्गीय साहित्य के नाम पर जिस जन साहित्य की अवधारणा भारतीय वामपंथी प्रगतिशील साहित्यिक संगठनों और उनके नेताओं ने रखी, वह एक अमूर्त–सा जन था। जिसका रूप–रंग और ठोस आकार भारतीय जन से तो नहीं मिलता–जुलता था। वह यूरोप या रूस का सर्वहारा वर्ग था, भारत का शूद्र–अतिशूद्र सर्वहारा वर्ग नहीं। (प्रेमचंद, राहुल सांकृत्यायन और एक हद तक मुक्तिबोध ने इससे भिन्न रास्ता अपनाया। वैसे भी ये लोग वामपंथी सांगठनिक घेरे से बाहर ही थे और मार्क्सवादी जड़सूत्रों से जीवन–जगत को देखने की जगह अपनी खुली आंखों से देखते थे, एक हद तक वामपंथी दायरे से बहिष्कृत भी थे) इसका बुनियादी कारण यह रहा है कि भारतीय वामपंथ यह नहीं समझ पाया कि वर्णजाति व्यवस्था ही भारत में वर्गीय शोषण–उत्पीड़न का बुनियादी आधार रही है। वर्ग विभाजन, वर्णजाति, पितृसत्ता और राज्य का उदय एक साथ हुआ है। दूसरी बात यह कि भारत के वामपंथी सांस्कृतिक–साहित्यिक आंदोलन के नेताओं का द्विज संस्कृति/मनुवादी–ब्राह्मणवादी संस्कति से प्रेम जगजाहिर है। इसे मध्यकाल में मनुवादी संस्कृति के सबसे बड़े पोषक तुलसी और उनके साहित्य के प्रति प्रगतिशील आलोचकों के नजरिए से समझा जा सकता है। प्रगतिशील साहित्य के सबसे बड़े आलोचको में से एक रामविलास शर्मा तुलसी के बारे में लिखते हैं कि तुलसीदास भारत के श्रेष्ठ भक्त–कवि, भक्ति– आंदोलन के निर्माता, उसी भक्ति–आंदोलन की महान उपलब्धि हैं।

प्रगतिशील साहित्यिक आंदोलन के यांत्रिक, जड़सूत्रवादी और द्विज समर्थक रूख और अमूर्त वर्गीय साहित्य के बरक्स भारतीय जन–जीवन के ठोस साहित्य को यदि बहुजन साहित्य की संज्ञा दी जाती है, जो अपने में सभी प्रकार के उत्पीड़न और शोषण के शिकार लोगों को समाहित कर लेता है, जैसा कि प्रमोद रंजन ने प्रस्तावित किया है तो इस अवधारणा से शायद ही कोई नाइत्तफाकी रखे। दिक्कत वहां शुरू होती है जब बहुजन साहित्य को ओबीसी (अन्य पिछड़ा वर्ग) का पर्यायवाची बना दिया जाता है और इसे इस हद तक खींच दिया जाता है कि ओबीसी जातियों में जन्म लेना ही जनपक्षधरता और प्रगतिशीलता का प्रमाण बन जाता है। ऐसे साहित्यकारों की भूरी–भूरी प्रशंसा की जाने लगती है जिनका साहित्य मनुवाद को ही सारतः पोषित करता रहा है या जिनके साहित्य में शूद्रों–अतिशूद्रों की विशिष्ट वेदना और पीड़ा

का कोई जिक्र ही नहीं। जिनके साहित्य में ब्राह्मणवादी पितृसत्ता की शिकार स्त्रियों की पीड़ा के लिए कोई जगह नहीं। साथ ही ओबीसी साहित्य की धारणा पेश करने वाले कुछ लेखों (संग्रह में संगृहीत) में एक स्वर यह भी है कि दलित साहित्य ओबीसी का प्रतिद्वन्दी है, उसका हक मार रहा है। ये स्वर सबसे मुखर रूप में राजेन्द्र सिंह के लेख 'ओबीसी साहित्य की अवधारणा' में सामने आता है। वे इस साहित्य की परिभाषा संवैधानिक–कानूनी संदर्भ में करते हैं–ओबीसी साहित्य सामाजिक तथा शैक्षणिक रूप से पिछड़े वर्गों का साहित्य है। वे बिना किसी मूल्यगत मानदंड के जाति के आधार पर ओबीसी साहित्यकारों की सूची पेश करते हैं। इसका प्रतिवाद करते हुए वीरेन्द्र यादव लिखते हैं कि 'दलित साहित्य की अवधारणा की तर्ज पर ओबीसी साहित्य की परिकल्पना एक विवादास्पद और जोखिम भरा मुद्दा है। विशेषकर जब इसे ओबीसी समाज की पहचान तक सीमित रखा जाए। यह जातिगत पूर्वग्रह का ही परिचायक है कि भारतेंदु, मैथिलीशरण गुप्त और जयशंकर प्रसाद के साहित्य में ओबीसी तत्वों को दूरबीन से ढूंढा जाता है, जबकि गैर–पिछड़े समाज से आए लेखकों के साहित्य को नजरांदाज कर दिया जाता है जिनमें श्रमशील पिछड़े वर्ग और हाशिए के समाज की केंद्रीयता है। प्रश्न यह है कि यदि प्रभुत्वशाली अभिजन साहित्य के बरक्स पिछड़े समुदाय की श्रमशील परंपरा की तलाश की जाती है तो वह साहित्य की विषयवस्तु के आधार पर की जानी चाहिए या लेखक की जाति के आधार पर?'

दलित साहित्य के साथ ओबीसी साहित्य के रिश्ते पर प्रेमकुमार मणि का यह सवाल जायज है कि ओबीसी साहित्य की कोई अलग विचारधारा है तो उसे स्पष्ट करना चाहिए अन्यथा जाति को लेकर एक नया पंथ खड़ा करना बहुत होशियारी की कोई बात नहीं है। दलित साहित्य के साथ एक विचारधारा थी। फुले और अंबेडकर की विचारधारा। ओबीसी साहित्य का स्वागत करते हुए, कंवल भारती भी उसका दर्शन क्या होगा यह प्रश्न उठाते हैं और दलित साहित्य के सापेक्ष में यह प्रश्न उठाते हैं कि जिस तरह दलित साहित्य की एक पहचान है, उसके मूल में ज्योतिबा फुले, डॉ. अंबेडकर, बुद्ध और कबीर–रैदास का दर्शन है, वर्ण व्यवस्था और अस्पृश्ता उसकी मुख्य वैचारिकी है, उसी प्रकार ओबीसी साहित्य का दर्शन क्या होगा?

जहां 'बहुजन साहित्य की प्रस्तावना' बहुजन साहित्य की अवधारणा को अपने विमर्श का विषय बनाती है, तो हिंदी साहित्येतिहास का बहुजन पक्ष' इस अवधारणा की रोशनी में हिंदी के वर्चस्वशाली साहित्येतिहास को देखने–परखने की वैकल्पिक दृष्टियों को सामने रखता है साथ ही इस वर्चस्वशाली साहित्येतिहास से बहिष्कृत किए गए या हाशिए पर फेंक दिए गए तबकों और उनके जीवन–यथार्थ का प्रतिनिधित्व करने वाली रचनाओं एवं रचनाकारों को समुचित जगह देने का प्रस्ताव करता है। बहिष्कृत तबकों में स्त्री, आदिवासी, शूद्र–अतिशूद्र हैं। वर्चस्वशाली इतिहास दृष्टि से टकराहट के केन्द्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हैं, ऐसा होना एक हद तक लाजिमी भी था, क्योंकि हिंदी का मुक्कमिल इतिहास तो शुक्ल जी ने ही लिखा है, लेकिन यही इस संकलन की सीमा भी है। शुक्ल जी के बाद के महत्वपूर्ण माने जाने वाले आलोचकों हजारी प्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा और नामवर सिंह की इतिहास और आलोचना दृष्टि के छिट–पुट संदर्भों के अलावा कोई चर्चा भी नहीं है, गंभीर विवेचना और विश्लेषण की बात तो दीगर है।

ज्यादातर लेख यह स्थापित करते हैं कि शुक्ल जी की आलोचना के मूल्यों और इतिहास दृष्टि के मानकों का निर्धारण द्विज संस्कृति, ब्राह्मणवादी मूल्यों के आधार पर हुआ है। इस चीज को मुक्तिबोध इस प्रकार रेखांकित करते हैं 'पं. रामचन्द्र शुक्ल जो निर्गुण मत को कोसते हैं,वह यों ही नहीं है। इसके पीछे उनकी सारी पुराण–मतवादी चेतना बोलती है'। वे दो टूक शब्दों में कहते हैं कि 'एक बार भक्ति–आंदोलन में ब्राह्मणों का प्रभाव जम जाने पर वर्णाश्रम धर्म की पुनर्विजय की घोषणा में कोई देर नहीं थी। ये घोषणा तुलसीदास ने की थी। हिंदी के प्रगतिशील आलोचकों द्वारा शुक्ल जी की वर्णजातिवादी मानसिकता को ढकने और उन्हें जनवादी–उदारवादी ठहराने की कोशिशों का पर्दाफाश करते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं कि 'आश्चर्य की बात यह है कि आजकल प्रगतिवादी क्षेत्रों में तुलसीदास जी के संबंध में जो कुछ लिखा गया है,उसमें जिस सामाजिक–ऐतिहासिक प्रक्रिया के तुलसीदास जी अंग थे, जान–बूझकर भुलाया गया है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल की वर्णाश्रमधर्मी जातिग्रस्त समाजिकता और सच्चे जनवाद को एक–दूसरे से ऐसे मिला दिया गया है मानो शुक्ल जी (जिनके प्रति हमारे मन में अत्यंत आदर है) सच्ची जनवादी मानसिकता के पक्षपाती हों'। तब क्या हिंदी आलोचना चतुर्वर्ण की संहिता को मजबूत करने वाली आलोचना रही है? शुक्ल जी की धर्मभूमि की यह झांकी लेने के बाद ऐसा कहा जा सकता है...शुक्ल जी के कैननाइजेशन में इस वर्णवाद की बड़ी निर्णायक भूमिका है शुक्ल जी का सत्ता– विमर्श यहीं से सत्ता प्राप्त करता है और इसी सत्ता को बहाल करता है। शुक्ल जी की इस वर्णजातिवादी इतिहास और आलोचना दृष्टि का प्रत्याख्यान करते वैकल्पिक बहुजन इतिहास दृष्टि को प्रस्तुत करने का प्रस्ताव पेश किया गया। 'साहित्य की बहुजन–दृष्टि से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास दृष्टि का किया गया अध्ययन हिंदी साहित्य के इतिहास और उसके प्रतिमानों को खारिज करता है और इतिहास के पुनर्लेखन की मांग करता है। बहुजन साहित्येतिहास के प्रस्तावक पुनर्लेखन की चुनौतियों से भली–भांति परिचित हैं। इतिहास दृष्टि इसमें सबसे बड़ी चुनौती

है। इसे निर्धारित कर पाना और उस पर कायम रहकर एक हजार साल के इतिहास का सम्यक मूल्यांकन कर पाना अत्यंत कठिन कार्य है। हिंदी के वर्चस्वशाली साहित्येतिहास में बहिष्कृतों और हाशिए के तबकों में स्त्री भी शामिल है, इस संदर्भ की कई आलेखों में चर्चा आई है। सुनीता गुप्ता, प्रेमपाल और रामनरेश राम के आलेख विस्तार से इस बहिष्करण और इसके कारणों का विवेचन–विश्लेषण करते हैं। सुनीता गुप्ता सुमन राजे को उद्धृत करते हुए कहती हैं कि 'ज्यों–ज्यों आधे इतिहास का लेखन गति पकड़ता गया, यह धारणा पुख्ता होती गई कि पुरुष इतिहासकारों ने महिला रचनाकारों के साथ बहुत अन्याय किया है। यह अन्याय उदासीनता के चलते हुआ हो, ऐसी बात नहीं, यह अन्याय विमुख रहकर किया गया। इन आलेखों में बहिष्कृत और हाशियाकृत स्त्री रचनाकारों की लंबी सूचियां भी दी गई हैं। आदिवासी तो हजारों वर्षों से मुख्यधारा से बहिष्कृत रहे हैं। इस संकलन के कुछ आलेखों में भी बहुजन साहित्य या ओबीसी साहित्य के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में दलित साहित्य को देखा गया है, जो इस विमर्श की व्यापकता को सीमित और संकुचित करता है।

साहित्य और मिथक

वर्ण जातिवादी ब्राह्मणवादी द्विज संस्कृति अपने वर्चस्व की स्थापना और उसे बनाए रखने के लिए अनवरत तौर पर मिथकों की रचना और पुनरर्चना करती रही है। ऐसे ही मिथकों में एक प्रभावी मिथक दुर्गा और महिषासुर का युद्ध और इस युद्ध में महिषासुर की पराजय तथा दुर्गा द्वारा उनकी हत्या है। प्रमोद रंजन द्वारा संपादित 'महिषासुर एक जननायक' संकलन इस मिथक का प्रत्याख्यान करता है। संपादक इसे एक सांस्कृतिक युद्ध के तौर पर प्रस्तुत करते हैं। उनका यह कहना बिल्कुल ठीक है कि किसी भी कथा के, चाहे वह पौराणिक हो, या साहित्यिक, या फिर अय्यारी के ही किस्से क्यों न हो, निहितार्थ को समझने के लिए उसका 'पाठ' विखंडन आवश्यक है। वे स्वंय ही यह प्रश्न उठाते हैं कि दुर्गा–महिषासुर की पौराणिक कथा का आज पुनर्पाठ क्यों? भारतीय समाज को इससे क्या लाभ है? बहुजन समाज को इससे क्या फायदा है? वे स्वंय ही इसका जवाब देते हुए कहते हैं कि वस्तुतः यह पुनर्पाठ न्याय की अवधारणा और मनुष्योचित नैतिकता को स्थापित करने के लिए है। सामर्थ्य पर सच्चाई की विजय के लिए है। सैकड़ों वर्षों से जाति–व्यवस्था से ग्रस्त इस समाज को अपनी मुक्ति के लिए अपने इस अवचेतन में उतरना ही होगा। आधुनिकता के बाहरी औजारों की शल्य क्रिया से इसकी मानसिक– मवाद पूरी तरह खत्म न की जा सकेगी। पौराणिक कथाओं के पुनर्पाठ को इसके मनौवैज्ञानिक इलाज की कोशिश के रूप में देखा जाना चाहिए। मिथकों के पुनर्पाठ या प्रतिपाठ की परंपरा कोई नई चीज नहीं है। प्रतिक्रियावादी–यथास्थितिवादी संस्कृतियों के बरक्स प्रगतिशील संस्कृतियों की रचना की चाह रखने वालों के लिए ऐसा करना अपरिहार्य हो जाता है। यह पुनर्विचार ज्योतिबा फुले ने आरंभ किया। अपनी सर्वाधिक महत्वपूर्ण पुस्तक 'गुलामगिरी' में उन्होंने हिंदू मिथकों और उनके आधार पर प्रचारित मान्यताओं की कठोर निंदा की है और उन मिथकों में छिपे षड्यंत्रों को भी उजागर किया किया है। डॉ. आंबेडकर ने भी 'रिडल्स इन हिंदुइज्म' में स्पष्ट संदेश दिया है कि भारतीय शास्त्रकारों ने मिथकीय व्याख्याओं के आधार पर इस धर्म और इसके समाजशास्त्र का ढांचा खड़ा किया है। डॉ. आंबेडकर और ज्योतिबा फुले के अध्ययन को आधार बनाकर और परवर्ती शोधकर्ताओं और लेखकों को देखें तो स्पष्ट होता जाता है कि इसमें से अधिकांश मिथकीय चरित्र और उनसे निकलने वाले संदेश किन्हीं सच्चाइयों को छिपा कर किन्हीं गलत तथ्यों को प्रचारित करने के लिए ही गढ़े गए हैं। विशेष रूप से देबी प्रसाद चट्टोपाध्याय, डी.डी. कोसंबी और गेल ओमवेट का अध्ययन स्पष्टता से बताता है कि भारतीय मिथकों ने कैसे आकार लिया और उनकी दिशा–विशेष की मौलिक प्रेरणाएं कहां निहित हैं। महिषासुर का पुनर्पाठ अपने को इस परंपरा का ही विस्तार मानता है। कांचा अइलैय्या जैसे अध्येता इसे व्यापक सांस्कृतिक संघर्ष के हिस्से के रूप में देखते हैं और कहते हैं कि यह एक तरह से हिंदुत्ववादी ताकतों के गाय आधारित राष्ट्रवाद के खिलाफ भैंस आधारित राष्ट्रवाद का विरोध है। महिषासुर को भैंस की तरह काले रंग में दिखाया जाता है। वे इसे भविष्य के व्यापक सांस्कृतिक संघर्ष की संभावना के रूप में देखते हुए कहते हैं कि दलित बहुजन और सवर्णों के बीच अगर पंचायत स्तर से लेकर संसदीय स्तर पर सांस्कृतिक संघर्ष की शुरूआत हो गई है तो कोई इसे रोक नहीं पाएगा। जो लोग महिषासुर की ऐतिहासिकता का प्रश्न उठाते हैं वे यह भूल जाते हैं कि मिथक लोकमानस के अवचेतन के हिस्से होते हैं। महिषासुर का इतिहास तो लोकमानस की यादों में जीवित है, उसे इतिहास–ग्रन्थों में खोजना बेईमानी है। इस संकलन में लोकमानस में महिषासुर की उपस्थिति की व्यापक पड़ताल की गई है और विविध प्रमाणों से लोकमानस में महिषासुर की उपस्थिति को दिखाया गया है।

तीनों संकलनों के विविध लेख अपनी भीतरी टकराहटों, अंतर्विरोधों और सीमाओं की उपस्थिति के बावजूद भारत की वर्चस्वशाली वर्णजातिवादी/ब्राह्मणवादी द्विज साहित्य, संस्कृति और मिथकों का प्रत्याख्यान करते हुए एक नई वैकल्पिक बहुजन दृष्टि की प्रभावशाली प्रस्तावना रखते हैं।

❐

आदिवासियत के सिद्धांतकार जयपाल सिंह मुंडा

अश्विनी कुमार पंकज

जयपाल सिंह मुंडा
(3 जनवरी 1903–20 मार्च 1970)

बीसवीं सदी का आरंभिक काल राजनीतिक दृष्टि से भारतीय इतिहास का बहुत महत्वपूर्ण काल है। यह वह दौर है जिसमें स्वतंत्रता आंदोलन की प्रौढ़ हो चुकी राजनीतिक धारा के भीतर हम भारत के विभिन्न सामाजिक समूहों की संगठित अभिव्यक्ति स्पष्टतः देख पाते हैं। मनुवादी जमाने से 'राज' में रही हिंदू उच्च जातियां गांधी–नेहरू के नेतृत्व में तो मुस्लिमों की बहुसंख्यक आबादी मो. जिन्ना के नेतृत्व में गोलबंद थी। वहीं कट्टर हिंदुओं के नेता डा. हेडगेवार और दलित हिंदू जातियों के नेता डा. आंबेडकर थे। इसी के साथ मार्क्सवादी और समाजवादी लोहिया भी स्वतंत्रता की ओर बढ़ते भारतीय राजनीति में दमदार तौर पर मौजूद थे। एक और राजनीतिक स्वर आदिवासियों का था। इन सभी राजनैतिक विचारधाराओं के नेतृत्वकर्ताओं के रूप में गांधी, आंबेडकर, जिन्ना, हेडगेवार और अन्य मार्क्सवादी व समाजवादी नेताओं के नाम बहुत लोकप्रिय हैं। परंतु आदिवासियों का अगुआ कौन था इसका कोई उल्लेख हमें भारत की आधुनिक राजनीति और इतिहास पर लिखी किताबों में नहीं मिलता। 1946 से 1949 के बीच संविधान सभा की हुई बहसों के प्रस्तुतीकरण में भी, जिसमें सभी भारतीय सामाजिक समूह आपस में लगातार टकरा रहे थे, राजनीतिक विश्लेषकों और इतिहासकारों ने एक सिरे से आदिवासी राजनीति और उसके उस नेतृत्व को 'गायब' कर दिया, जिसे देश की आदिवासी जनता 'मरङ गोमके' (महान नेता) कहती है। मरङ गोमके जयपाल सिंह मुंडा।

1935 में इंडिया एक्ट के लागू होने और अनौपचारिक रूप से भारतीय शासक वर्ग के हाथ में सत्ता आ जाने के बाद देश के सभी सामाजिक समूहों की राजनैतिक सक्रियता तेजी से बढ़ गई थी। गांधी, आंबेडकर, जिन्ना और हेडगेवार तथा मार्क्सवादी और समाजवादी नेतृत्व में समूचा भारत एकजुट था। लेकिन आदिवासियों के बारे में देश के सभी सामाजिक समूहों और राजनीतिक विचारों की समझ लगभग एक जैसी थी। कोई इन्हें पिछड़ा हिंदू मानता था तो किसी के लिए ये अविकसित उत्पादन संबंधों में जीने वाले आदिम समाज थे। निम्नवर्गीय हिंदुओं की लड़ाई लड़ रहे डा. आंबेडकर का विचार भी इन सबसे अलग नहीं था। यानी 1930 से 1950 के इस महत्वपूर्ण राजनैतिक परिदृश्य में भारत के 3 करोड़ आदिवासी किसी की प्राथमिकता में नहीं थे। जिन्हें कोई भी राजनीतिक विचार और दल एक स्वतंत्र और स्वायत्त समूह के बतौर स्वीकार करने को तैयार नहीं था। जबकि पूर्वोत्तर के पहाड़ों से लेकर दामोदर, नर्मदा और गोदावरी के मैदानों–जंगलों में सदियों से रहने वाले आदिवासी समुदाय बंगाल की दिवानी मिलने के बाद से ही ब्रिटिश उपनिवेशवाद के खिलाफ युद्धरत थे। अंग्रेजी हुकूमत से लड़ने वाले वे पहले भारतीय थे। फिर क्यों स्वतंत्रता की लड़ाई में बाद में शामिल हुए गैर–आदिवासी समूह उनकी राजनीतिक आकांक्षाओं को नकार रहे थे? गांधी का पूर्ण स्वराज, आंबेडकर का दलितवाद और मार्क्सवादियों की साम्यवादी अवधारणा आखिर क्यों जयपाल सिंह मुंडा द्वारा भारत के राजनीतिक पटल पर रखे गए 'आदिवासियत' के विचार को एक स्वर से खारिज कर रही थीं? इसे समझने के लिए आइए जानते हैं जयपाल सिंह मुंडा को जो भारत में आदिवासियत के पहले दार्शनिक, कुशल संगठक, युगांतकारी नेतृत्वकर्ता और राजनैतिक सिद्धांतकार हैं।

आदिवासी जीवन दर्शन के गहरे अध्येता रहे लेखक कहानी, उपन्यास कविता, शोध विमर्श, रंगमंच और सिनेमा आदि माध्यमों में अविराम काम करते रहे हैं।

बिरसा मुंडा के शहीद होने के दो साल बाद 1903 में उसी आदिवासी क्षेत्र में जहां ब्रिटिश और 'दिकू' (बाहरी) राज के खिलाफ उलगुलान की आग बुझी नहीं थी, धधक रही थी, जयपाल सिंह मुंडा का जन्म हुआ था। झारखंड के टकरा पाहनटोली गांव में। उनके पिता अमरू परंपरागत रूप से मुंडा समाज के 'पाहन' थे। मुंडा समाज में पाहन एक पद है, जिसपर समाज के धार्मिक–आध्यात्मिक कार्यों के संपादन का भार होता है। उसकी सामाजिक भूमिका पुजारी की बजाय नैतिक मुखिया के तौर पर

कहीं ज्यादा होती है। जयपाल की मां राधामुनी थीं और वे अपने आठ भाई–बहनों में दूसरे नंबर पर थे। टकरा पाहनटोली आज खूंटी जिले में है और यह रांची से 11 मील दक्षिण में है। खूंटी क्षेत्र मुंडा आदिवासियों की घनी बसाहट वाला इलाका है। इतिहासकारों का मानना है कि झारखंड में उरांवों के आगमन और नागवंश के उद्भव के बाद मुंडा लोग रांची के पूरब से दक्षिण की ओर खूंटी की तरफ जा बसे। मुंडा लोग अंग्रेजों से लगातार अपने पारंपरिक अधिकारों को पाने के लिए संघर्षरत रहे। इनमें प्रमुख है सरदारी लड़ाई, जो रुक–रुक कर 1820 के बाद से 1900 तक लगातार चली। इसके बाद ही और अत्याचारी सामंतों और जुल्मी अंग्रेजी राज के विरूद्ध आदिवासी युद्धों की निरंतरता में 1895 में बिरसा मुंडा की अगुवाई में इतिहास प्रसिद्ध 'उलगुलान' हुआ। मुंडाओं के इस युद्ध ने ब्रिटिश राज की नींव हिला दी और उन्हें इस बात के लिए मजबूर किया कि वे खुद को आदिवासी समर्थक साबित करें। आदिवासियों की जमीन और संसाधनों की लूट को रोकने का उपाय करें और बाहरी हस्तक्षेपों पर तत्काल अंकुश लगाएं। इसी का परिणाम हुआ कि ब्रिटिश सरकार ने आदिवासी जमीन लूट पर लगाम लगाने के लिए 1908 में 'छोटानागपुर टेनेंसी एक्ट' पारित किया। इसी के साथ कुछ अन्य प्रशासनिक सुधार भी किए गए तथा बिरसा उलगुलान के प्रभाव को कम करने के लिए बड़े पैमाने पर ईसाइयत का प्रसार किया। जयपाल सिंह मुंडा के जन्म गांव टकरा पाहनटोली के ईसाई बनने की यही पृष्ठभूमि है।

जयपाल सिंह मुंडा का वास्तविक नाम प्रमोद पाहन था। उनके जन्म की वास्तविक तिथि क्या थी, इसे जयपाल भी नहीं जानते थे। हालांकि अब 3 जनवरी 1903 की तारीख उनकी जन्मतिथि के रूप में स्थापित हो चुकी है। उनका नाम भी प्रमोद से कैसे जयपाल हुआ और उनकी सामुदायिक पहचान 'मुंडा' कैसे उनसे अलग हुआ, इस बारे में जयपाल ने खुद बताया है, 'मेरा नाम किसने और कब बदला, मुझे नहीं मालूम। वह 1911 की 3 जनवरी थी जिस दिन शायद मेरा नाम बदला गया होगा। तब मैं 8–10 साल का रहा होऊंगा। घर में लोग मुझे प्रमोद कहते थे और 3 जनवरी के पहले तक मेरा यही नाम था। लेकिन 3 जनवरी को जब मैं अपने आबा (पिता) अमरू पाहन की अंगुली थामे, सकुचाते हुए रांची के संत पॉल स्कूल पहुंचा था तो न सिर्फ मेरी पैदाइश की तारीख बदल गई बल्कि मेरा नाम भी बदल गया था।' (लो बिर सेंदरा, पृ. 4) ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के रजिस्टर में जो विवरण दर्ज है उसमें उनका पूरा नाम ईश्वरदास जयपाल सिंह, सन ऑफ ए. पी. सिंह लिखा हुआ है। यही नाम उनकी पहली शादी के वक्त दार्जिलिंग के चर्च में भी रजिस्टर्ड है।

संत पॉल स्कूल के प्रधानाध्यापक केनोन कॉसग्रेव थे। कॉसग्रेव तब संत पॉल मिशन के धर्माधिकारी और रांची नगरपालिका के वाइस चेयरमैन भी थे। उनकी पारखी नजरों ने जयपाल सिंह मुंडा की मेधा को पहचान लिया था। इसलिए बहुत जल्दी ही जयपाल कॉसग्रेव के प्रिय छात्र बन गए। कहते हैं जयपाल की लगन जितनी पढ़ाई में थी, उतने ही वे खेलकूद और अन्य गतिविधियों में भी तेज थे। कॉसग्रेव शायद उनकी सीखने की इसी बहुमुखी प्रतिभा से प्रभावित हुए थे। इसीलिए संत पॉल में दाखिल होने के छठे साल 1918 में जब कॉसग्रेव रिटायर हुए और इंग्लैंड लौटने लगे तो वे अकेले नहीं गए, अपने साथ जयपाल को भी लेते गए।

कॉसग्रेव ने जयपाल को इंग्लैंड के कनटरबरी स्थित अगस्तीन कॉलेज में भरती कराया। धार्मिक शिक्षा पा कर पादरी बनने के लिए। लेकिन दो टर्म की धार्मिक पढ़ाई के बाद बिशप ऑर्थर मेसाकनाइट ने, जो वहां के वार्डन थे और जिनका संत जॉन कॉलेज के प्रेसिडेंट डा. जेम्स से नजदीकी संबंध था, उन्होंने जयपाल को ऑक्सफोर्ड भेज दिया। संत कॉलेज, ऑक्सफोर्ड से 1922 में जयपाल ने मैट्रिक, 1926 में फिलॉसफी, पॉलटिक्स व इकॉनोमिक्स (पीपीई) में बी.ए. और वहीं से वे 1929 में इकॉनोमिक्स में प्रथम श्रेणी में एम.ए. हुए। कॉलेज की पढ़ाई के दौरान 1924 में संत पॉल कॉलेज के डिबेट सोसायटी के सचिव और 1925 में वे प्रेसिडेंट चुने गए। 1925–26 में अपने कॉलेज की फुटबॉल और हॉकी टीम के पॉपुलर खिलाड़ी बने रहे। 1924 से 1926 के बीच उन्होंने ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी की हॉकी टीम का प्रतिनिधित्व किया और उसी समय उन्हें ऑक्सफोर्ड के 'ब्लू हॉकी' खिलाड़ी होने का सम्मान मिला।

जयपाल सिंह मुंडा बहुत ही मेधावी छात्र थे। उनकी मेधा मात्र ऑक्सफोर्ड की किताबी दुनिया से नहीं बन रही थी। उनकी ज्ञान की दुनिया उस सामाजिक और राजनीतिक हलचल से निर्मित हो रही थी, जिसका केन्द्र यूरोप था। समूचा विश्व जिसकी कॉलोनी थी। राजनीतिक–आर्थिक दुनिया में विविध समाजों को जो अपने ढंग से हांक रहा था और विरोध कर रही जनता को बेरहमी से कुचल रहा था। अपने ही देश के उन नागरिकों को, जिनकी मेहनत पर ब्रिटिश साम्राज्य की नींव खड़ी थी, नागरिकता देने से इनकार कर रहा था। आर्यों की तरह ही ब्रिटेन का गोरा समाज जिनसे घृणा करता था और इंसान कहने की बजाय उन्हें 'कलर्ड' कह कर पुकारता था। इतिहास, भाषा–साहित्य, संस्कृति, ज्ञान–विज्ञान और कला–कौशल को जो अपने मुनाफे और आर्थिक समृद्धि के लिए यूरोपीय ढांचे में समाहित व उनका अनुकूलन करते जा रहा था। अर्थशास्त्र का विद्यार्थी होने के नाते जयपाल सिंह मुंडा की इन सब राजनीतिक उठापटक, छीनाझपटी पर गहरी नजर थी। वे एशियन थे, कलर्ड थे और आदिवासी थे। इस नस्लीय भेदभाव पर जयपाल सिंह मुंडा लिखते हैं, 'कॉलेज में मैं एकमात्र एशियाई था। चार सालों

तक कॉलेज ने मेरी एशियाई पहचान को नहीं स्वीकार किया। मैं ट्रायल पर था, जैसा कि वहां होता था।' (लो बिर सेंदरा, पृ. 20)

1925 में उन्होंने इंडियन स्टूडेंट हॉकी फेडरेशन, इंग्लैंड की स्थापना की। 1927 में उनका चयन भारतीय सिविल सर्विस (आई.सी.एस.) के लिए हुआ। जब वे आई.सी.एस. की पढ़ाई कर रहे थे, उसी समय भारत की ब्रिटिश सरकार ने 1928 में होने वाले ओलंपिक में हॉकी खेलने का निर्णय लिया। एंग्लो–इंडियन्स और कुछ भारतीय लोगों को लेकर हॉकी की टीम बनायी गई। अब समस्या कप्तान की थी। भारत के ब्रिटिश अधिकारियों को इंग्लैंड में चर्चित जयपाल की खबर थी। सरकार ने उन्हें ओलंपिक हॉकी टीम का कप्तान नियुक्त कर दिया। जब उनके कप्तान बनने की खबर ब्रिटेन में पहुंची तो रंगभेदी नजरिया रखने वाले लोगों को यह पसंद नहीं आया। ओलंपिक खेलने के लिए जयपाल जब अपने आई.सी.एस. प्रशिक्षण प्रभारी से छुट्टी मांगने गए तो उसने कहा – 'छुट्टी नहीं मिलेगी। तय कर लो आई.सी.एस. बनना है या हॉकी खेलना है।' यह बहुत दुविधापूर्ण स्थिति थी उनके सामने। उन्होंने अंग्रेज अधिकारी से बहुत अपील की कि वह उन्हें जाने दे। ओलंपिक से लौटकर वह ज्यादा मेहनत करके प्रशिक्षण का बचा हुआ कोर्स पूरा कर लेंगे। लेकिन अधिकारी अड़ा रहा। तब जयपाल सिंह ने आई.सी.एस. के कैरियर को दाव पर रखते हुए प्रशिक्षण छोड़ने का फैसला किया। उन्होंने लिखा है, 'मैं एक पल के लिए ठिठका। मुझे आईसीएस और हॉकी, इनमें से किसी एक को चुनना था। मैंने अपने दिल की आवाज सुनी। हॉकी मेरे खून में था। मैंने फैसला किया हॉकी।' औपनिवेशिक भारत में और संभवतः पूरी दुनिया में अपने देश और खेल के लिए आई.सी.एस. जैसा प्रतिष्ठित अवसर छोड़ने वाले जयपाल सिंह मुंडा एकमात्र भारतीय आदिवासी हैं। लेकिन भारत में देश के लिए आई.सी.एस. छोड़ने का श्रेय इतिहासकार सिर्फ सुभाष चंद्र बोस को देते हैं। इतिहासकारों का यह पक्षपाती नजरिया जयपाल सिंह मुंडा के इस महानतम योगदान को नकारता है।

1928 के ओलंपिक में भारतीय हॉकी टीम ने शानदार प्रदर्शन किया। 26 मई 1928 को एम्सटर्डम में हुए मैच में भारत 3–0 से जीतकर ओलंपिक हॉकी का विश्व चैंपियन बना। एक गुलाम देश की टीम ने आदिवासी जयपाल के नेतृत्व में वह कारनामा कर दिखाया जिसके बारे में कोई सोच भी नहीं सकता था। समूचा भारत इस जीत पर खुशी मना रहा था। परंतु शानदार जीत और इतिहास रचने वाले जयपाल सिंह मुंडा ने नस्लीय भेदभाव के कारण ओलंपिक में मिली कामयाबी के बाद तुरंत हॉकी छोड़ दिया। जिस खेल के लिए उन्होंने आई.सी.एस. को ठुकरा दिया था, वह उनका कैरियर नहीं बन सका।

आई.सी.एस. और खेल दोनों को छोड़ने के बाद अब जयपाल बेरोजगार थे। उनका भविष्य अनिश्चित हो गया था। वह ऑक्सफोर्ड से अर्थशास्त्र में एम.ए. थे। इस योग्यता से कोई भी नौकरी हासिल कर लेना उनके लिए बहुत मुश्किल नहीं था। जल्दी ही उन्हें पहली नौकरी मिली और लंदन में तीन महीने के प्रोबेशन के बाद वे भारत स्थित कंपनी की शाखा 'बर्मा ऑयल कंपनी' का मुख्य कार्यकारी बनकर कलकत्ता चले आए। गुलाम भारत में किसी ब्रिटिश कंपनी में इतने ऊंचे पद पर नौकरी पाने वाले वह पहले भारतीय थे।

भारत आते ही उन्हें जातीय और नस्ली उत्पीड़न का जो पहला अनुभव हुआ था, उसके बारे में वे कहते हैं, 'मैं अवाक् था। जब कंपनी के मैनेजर ने यह कहा कि मैं उसके साथ उसी लिफ्ट में नहीं, बल्कि दूसरी लिफ्ट से आऊं, जो बाबुओं के लिए है। लंदन में बस या रेलवे में चाहे वह टॉप का बिजनेसमैन हो या एक साधारण ब्रिटिश नागरिक, सभी एक साथ सफर करते हैं। मुझे पहली बार अहसास हुआ कि मैं ब्रिटिश साम्राज्य में हूं, एक ब्रिटिश कंपनी का नौकर। मेरा विद्रोही मन प्रतिकार के लिए तड़प उठा, पर मैंने उसे दबा दिया, क्योंकि मैं अपनी यह नई आजीविका भी नहीं खोना चाहता था।' (लो बिर सेंदरा, पृ. 51)

दरअसल, सिंह टाइटल के कारण लोग उन्हें पंजाबी या फिर बिहार–उत्तर प्रदेश का राजपूत समझ लेते थे। उस समय ऑक्सफोर्ड में पढ़नेवाले धनी व्यापारियों, उद्योगपतियों और जमींदार–राजा के घरों के लोग ही हुआ करते थे। जब जयपाल ऑक्सफोर्ड में थे, उस समय सरोजनी नायडू की बेटी लीलामणि नायडू, पटौदी के नवाब इफ्तीखार अली खान, दिलीप सिंह, भंडारनायके जो बाद में श्रीलंका के प्रधानमंत्री बने, आदि भारतीय और दूसरे कई देशों के धर्माध्यक्षों, राजाओं व धनी व्यापारियों के लड़के–लड़कियां उनके सहपाठी हुआ करते थे। अपनी ऑटोबायोग्राफी में उन्होंने कई लोगों का जिक्र किया है। लेकिन विशेष रूप से दो सहपाठियों, एक वेरियर एलविन और दूसरा दॉदेल जो कि अंधा था, के बारे में विस्तार से परिचय दिया है।

शेल ऑयल कंपनी में नौकरी करते हुए कलकत्ता के उच्च वर्गीय प्रशासनिक, धार्मिक, व्यापारिक लोगों, समृद्ध परिवारों और ब्रिटिश, एंग्लो इंडियंस व फ्रेंच व्यक्तियों से उनकी जान–पहचान हुई। कुछेक के साथ अंतरंग मित्रता भी बनी। इनमें दो भारतीय थे। एक तो पंकज गुप्ता जो खेल के क्षेत्र में बड़े लोकप्रिय और अंतरराष्ट्रीय ख्याति के व्यक्ति थे, और दूसरा दिल्लू। दिल्लू यानी दिलीप चौधरी। जनरल जे.एन. चौधरी के भाई। पंकज गुप्ता ने जहां उन्हें खेल की दुनिया में शौकिया तौर पर ही सही वापस लौटने के लिए प्रेरित किया। इसी के बाद 1929 में जयपाल ने मोहन बागान, कोलकाता के हॉकी टीम की स्थापना की। बंगाल हॉकी एसोसिएशन के वे सेक्रेटरी और इंडियन स्पोर्ट्स काउंसिल के सदस्य बनाए गए। साथ ही उन्होंने भारतीय अखबारों के लिए

खेल समीक्षाएं भी लिखने की शुरुआत की। 4 नवंबर 1929 को एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल ने उन्हें अपना सदस्य बनाया। दिल्लू से हुई मित्रता ने उनके जीवन में बड़ा परिवर्तन लाया। वे खेल में शौकिया तौर पर ही सही, फिर से वापस तो लौटे ही उन्हें अपनी जीवनसंगिनी भी मिली। छुट्टियों में वे दिल्लू के साथ उसके घर दार्जिलिंग जाया करते। जहां उनकी मुलाकात दिल्लू की कजिन सिस्टर तारा मजुमदार से हुई। तारा बहुत खूबसूरत थी और लोग दार्जिलिंग की राजकुमार कहते थे। तारा पहली मुलाकात में ही उनके आकर्षक खेल और व्यक्तित्व पर अपना दिल हार बैठी। जयपाल ने तारा के प्रेम–प्रस्ताव पर बहुत विचार किया और आखिरकार बहुत हिचकते हुए स्वीकार कर लिया। तारा का परिवार बहुत प्रतिष्ठित था। उसके पिता पीके मजुमदार और मां एग्नेस मजुमदार का बड़ा सम्मान था तब बंगाल और भारतीय समाज में। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के संस्थापक अध्यक्ष वोमेशचंद्र बनर्जी तारा के नाना थे। 15 जनवरी 1932 को दार्जिलिंग चर्च में उनका विवाह तारा के साथ संपन्न हुआ। विवाह के उपलक्ष में जिमखाना क्लब, दार्जिलिंग में हुई भव्य पार्टी में देश की गणमान्य हस्तियां शामिल हुई थीं।

विवाह के सुखमय जीवन के एक–दो साल बीतते–बीतते जयपाल को फिर से आजीविका के संकट का सामना करना पड़ा। शेल ऑयल कंपनी ने तारा के साथ हुए संबंध के कारण ईर्ष्यावश उनका कॉन्ट्रैक्ट रीन्यूअल नहीं किया। पर जल्दी ही घाना, अफ्रीका के अचिमोता कॉलेज में उन्हें वाणिज्य प्राध्यापक की नई नौकरी मिल गई। लंदन होते हुए अपने एक साल के बच्चे अमर के साथ जयपाल दंपत्ति अफ्रीका चले गए। अचिमोता कॉलेज में शिक्षक रहने के बाद कुछ दिनों तक वह युगांडा में भी रहे। इस बीच तारा दार्जिलिंग लौट गई थी। उन अकेलेपन के दिनों में एक अफ्रीकन महिला ग्रेस ने उन्हें अपने मोहपाश में बांध लिया। इस बात को उन्होंने तारा से नहीं छुपाया। ग्रेस के साथ बन रहे संबंध को जयपाल दिल से स्वीकार नहीं कर पा रहे थे। उन्हें तारा और अमर की कमी खल रही थी। उनका मन अफ्रीका से उचट रहा था। संयोग से मानसिक बेचैनी के उन्हीं दिनों जयपाल को रायपुर के शिक्षा, स्वास्थ्य और भूमि सचिव गिरजा शंकर बाजपेयी का तार मिला, जिसमें उन्हें राजकुमार कॉलेज का वाइस प्रिंसिपल पद के लिए नौकरी का ऑफर था। उन्होंने तुरंत ऑफर को स्वीकार कर लिया और भारत लौट आए।

रायपुर के राजकुमार कॉलेज में मूलतः सामंतों, राजाओं और अंग्रेज अधिकारियों के बच्चे पढ़ते थे। वहां 74 छात्र थे जिनमें से वरिष्ठ छात्रों को जयपाल अंग्रेजी, इतिहास, अर्थशास्त्र और राजनीति विज्ञान पढ़ाते थे। स्मिथ पर्से राजकुमार कॉलेज का मुख्य प्रिंसिपल था। वह 1918 के आसपास का साधारण ग्रेजुएट था। लेकिन उसके पिता का भारत से लेकर लंदन तक बड़ा रसूख था। इसी कारण योग्यता न रहते हुए भी वह भारत के शैक्षिक सेवा का सदस्य था। अक्सर स्मिथ उनकी क्लास में चला आता, यह देखने कि जयपाल कैसा पढ़ाते हैं। एक दिन क्लास के दौरान कोई एक बात वह समझ नहीं पाया और जयपाल से उसकी ठन गई। नतीजतन जयपाल को राजकुमार कॉलेज भी छोड़ देना पड़ा। राजकुमार कॉलेज, रायपुर छोड़ने के पीछे सिर्फ स्मिथ पर्से का अहं नहीं था, बल्कि नस्लीय भेदभाव भी था। कई सामंतों और कॉलेज की मैनेजिंग कमेटी के प्रेसिडेंट सरगुजा महाराज एक मामूली भारतीय, वह भी आदिवासी को वाइस प्रिंसिपल पद पर नहीं पचा पा रहे थे। एक और कारण शिक्षा के क्षेत्र में हो रही लूट और भ्रष्टाचार था। जिसके खिलाफ जयपाल ने भारत सरकार के शिक्षा सचिव सर जॉन सेर्जेंट को पत्र भेजकर लिखित रूप से प्रतिवाद जाहिर किया था।

राजकुमार कॉलेज, रायपुर छोड़ने के बाद वे बीकानेर स्टेट चले आए जहां उन्हें 'मंत्री' की नई नौकरी मिल गई थी। तब सर कैलाश हक्सर, जो रतन नेहरू के ससुर थे, बीकानेर स्टेट के प्रधानमंत्री थे। यहां भी जयपाल लंबे समय तक नहीं टिक पाए। स्टेट में भ्रष्टाचार चरम पर था। किसानों और राज्य के रैयतों का शोषण करने में हर अधिकारी में होड़ लगी थी। ऐसे सहयोगियों के साथ लड़ाकू तेवर वाले जयपाल का काम करना मुश्किल था। वे भ्रष्टाचार को खत्म नहीं कर सकते थे, लेकिन कुछ हद तक रोक सकते थे। उन्होंने इसकी कोशिश की और सफल भी हुए। इससे प्रभावित होकर अंधाताजी ने उनका वेतन तो बढ़ाया ही, उन्हें विदेश सचिव भी बना दिया। इस सफलता ने अनेक दुश्मन खड़े कर दिए। पंजाब सरकार के प्रधानमंत्री सिकंदर हयात खान के मातहत सरदार के एम पणिक्कर उनके सख्त खिलाफ थे। उनके दुश्मनों और पणिक्कर की लामबंदी काम कर गई। बीकानेर राजा के कान भर दिए गए। इससे पहले कि जयपाल को निकाला जाता बीकानेर स्टेट के प्रधानमंत्री कैलाश हक्सर ने उन्हें सलाह दी कि खुद ही नौकरी छोड़ दें। कश्मीर चले जाएं, जहां महाराजा हरि सिंह अपने बेटे कर्ण सिंह के लिए एक योग्य शिक्षक की तलाश में हैं। जयपाल ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया परंतु तारा को कश्मीर का माहौल रास नहीं आया। वह बीमार रहने लगी। जयपाल ने कश्मीर छोड़ दिया। तब तक दूसरे विश्वयुद्ध का माहौल बन चुका था।

जब वे राजकुमार कॉलेज, रायपुर में थे और उन्हें लगने लगा था कि अब और ज्यादा दिन वह वहां नहीं रह पाएंगे, बिहार कांग्रेस कमेटी के तत्कालीन अध्यक्ष डा. राजेन्द्र प्रसाद को उन्होंने एक चिट्ठी लिखी थी। इस पत्र में जयपाल ने अपना परिचय देते हुए डा. राजेन्द्र प्रसाद से शिक्षा के क्षेत्र में काम दिलाने की इच्छा जाहिर की थी। जवाब मिला कि देखेंगे क्या कर सकते हैं। यह दिसंबर 1938 की बात है जब वर्षों बाद जयपाल सिंह मुंडा बिहार

आए। वे पहले पटना पहुंचे और तब रांची। अपने गांव टकरा पाहनटोली भी गए। इंग्लैंड जाने के ठीक बीस साल बाद बिहार–रांची की यह उनकी पहली यात्रा थी। रांची से वापस कलकत्ता लौट कर उन्होंने पहले से बड़ी चिट्ठी राजेन्द्र बाबू को लिखी। 22 दिसंबर 1938 को लिखे इसी पत्र में उन्होंने अपनी उस मनोदशा का संकेत दिया है, जो आगे चलकर भारतीय राजनीति में उनकी ऐतिहासिक भागीदारी का कारण बना। उन्होंने लिखा –

'प्रिय डा. राजेन्द्र प्रसाद, पिछले सप्ताह मैं पटना में था। ऑक्सफोर्ड के अपने दोस्त सैयद मेहदी इमाम के यहां। ... आदिवासी लोग, मैं जिनमें से एक हूं, उन्हें निश्चय ही सहायता की जरूरत है। ये लोग लंबे समय से दरकिनार कर दिए गए हैं। छोटानागपुरिया लोगों की बदतर हालत के जिक्र के लिए कृपया मुझे माफ कीजिएगा। बीस वर्षों तक बाहर रहने के कारण मैं अपने लोगों से पूरी तरह से कट गया था और उनके वास्तविक हालात की मुझे तनिक भी जानकारी नहीं थी। ... जो लाभ आदिवासियों को मिलना चाहिए था और जिसके अभाव में वे विद्रोही बने हुए हैं, आदिवासियों का यह विद्रोह एक दिन पूरे बिहार के लिए त्रासदी बन जाएगा। मैं लंबे समय तक शैक्षणिक कार्यों में व्यस्त रहा हूं और प्रायः राजनीति में कोई दिलचस्पी नहीं रही है। लेकिन अपने गांव के आसपास और इलाके के लोगों की जो अवस्था मैंने देखी है, उसके बाद से मेरा दिमाग पूरी तरह से खराब (अपसेट) हो गया है। अपने लोगों के बदतर हालात और दर्दभरी पुकार से मैं खुद को कैसे अलग रख रख सकता हूं। और आखिर कब तक उन्हें अनसुना कर सकता हूं।' (डा. राजेन्द्र प्रसाद : कॉरेसपोन्डेन्स एंड सेलेक्ट डॉक्यूमेन्ट्स, वोल्यूम 2, सं. – वाल्मिकी चौधरी, एलाइड पब्लिशर्स, 1984, पृ. 177–78)

बीस साल बाद झारखंड–बिहार लौटना विदेश जाने के बाद उनके जीवन की वह महत्वपूर्ण घटना है, जिसने न सिर्फ उनके व्यक्तिगत जीवन को पूरी तरह से बदल डाला, बल्कि भारतीय राजनीति में एक ऐसे शख्सियत का उदय हुआ जिसने झारखंड आंदोलन को राजनीतिक मैदान में 'फुल बैक' तो बनाया ही, देश के करोड़ों आदिवासियों की सदियों से उपेक्षित आवाज को, उनके नैसर्गिक अधिकार के सवाल और आदिवासियत की पहचान को औपनिवेशिक एवं अंतर औपनिवेशिक भारत में अदम्य साहस के साथ स्थापित किया।

जयपाल सिंह मुंडा के राजनीति में कदम रखने से पहले झारखंड का सामाजिक वातावरण पूरी तरह से तप रहा था। आदिवासी अधिकारों के सवाल पर 1912 में जे. बोर्थेलेम्यु द्वारा गठित 'छोटानागुपर उन्नति समाज' और बाद में उभरे कई संगठन अपने–अपने ढंग से संघर्ष कर रहे थे। ऐसे संगठनों में छोटानागुपर उन्नति समाज के अलावा छोटानागुपर कैथोलिक सभा, मुंडा सभा, खड़िया सभा, किसान सभा (1931) आदि प्रमुख थे। 'छोटानागपुर उन्नति समाज' इन सब में मूल और सबसे पुराना संगठन था। 1928 में जब साइमन कमीशन रांची आया तो जुएल लकड़ा, थियोडोर सुरीन, राय साहब बंदीराम उरांव, पॉल दयाल, ठेबले उरांव आदि के नेतृत्व में उन्नति समाज की ओर से छोटानागपुर अलग प्रांत के लिए एक स्मार पत्र दिया गया। ब्रिटिश सरकार ने यह मांग नामंजूर कर दी। 1931 में छोटानागपुर उन्नति समाज के नेताओं में इस कदर मतभेद हुआ कि कई अलग–अलग संगठन बन गए। 1935 में जब देश में अंतरिम सरकार के लिए चुनाव हुए तो इन सभी आदिवासी संगठनों ने अपने–अपने प्रत्याशी मैदान में उतारे। नतीजा यह हुआ कि आदिवासी वोट बंट गए और सभी आदिवासी प्रत्याशियों को हार का सामना करना पड़ा। इस हार ने आदिवासी नेताओं को फिर से एकता कायम करने के लिए मजबूर किया।

औपनिवेशिक भारत में और संभवतः पूरी दुनिया में अपने देश और खेल के लिए आई.सी.एस. जैसा प्रतिष्ठित अवसर छोड़ने वाले जयपाल सिंह मुंडा एकमात्र भारतीय आदिवासी हैं। लेकिन भारत में देश के लिए आई.सी.एस. छोड़ने का श्रेय इतिहासकार सिर्फ सुभाष चंद्र बोस को देते हैं। इतिहासकारों का यह पक्षपाती नजरिया जयपाल सिंह मुंडा के इस महानतम योगदान को नकारता है।

30–31 मई 1938 को सभी संगठनों ने दो दिवसीय एकता सम्मेलन बुलाया और सर्वसहमति से एकजुट होकर एक नए एकीकृत संगठन 'आदिवासी सभा' की घोषणा की। इस एकता सम्मेलन में छोटानागुपर उन्नति समाज, छोटानागुपर कैथोलिक सभा, मुंडा सभा, खड़िया सभा, किसान सभा के करीब 255 प्रतिनिधि शामिल हुए थे। सम्मेलन की अध्यक्षता थियोडोर सुरीन ने की थी। सम्मेलन के दूसरे दिन कार्यकारिणी समिति का चुनाव हुआ और छह सूत्री राजनीतिक प्रस्ताव पारित किए गए।

'आदिवासी सभा' की नई और वास्तविक राजनीतिक पारी 1939 की जनवरी से शुरू हुई जब इसकी अध्यक्षता और अगुआई का दायित्व जयपाल ने लिया। 1938 की दिसंबर में जब जयपाल रांची आए थे, तो उसी वक्त 'आदिवासी सभा' के प्रमुख नेताओं ने उनसे आग्रह किया था कि वे संगठन की अध्यक्षता स्वीकार कर आदिवासी आंदोलन को नेतृत्व प्रदान करें। इस आग्रह को स्वीकार कर 'आदिवासी सभा' में शामिल होने तथा आंदोलन को नेतृत्व देने के लिए 19 जनवरी को जयपाल सिंह मुंडा रांची पहुंचे। झारखंड आंदोलन के लिए यह एक ऐतिहासिक अवसर

था। इससे पहले देश में इतनी बड़ी आदिवासी रैली और जनसभा का आयोजन कहीं नहीं हुआ था। 20 जनवरी, 1939 के दिन पूरा रांची आदिवासियों के विशाल हुजूम से पट गया। दूरदराज के लोग चार–पांच दिन पहले से ही आदिवासी सभा भवन के मैदान (अब हिंदपीढ़ी, रांची का इलाका) में डेरा डाल चुके थे। बिहार और दिल्ली के कांग्रेसी नेता और मीडिया भौंचक्क थी। आदिवासी सभा के आह्वान पर एक लाख से ज्यादा लोग 'विदेशी तुल्य ईसाई आदिवासी' जयपाल सिंह मुंडा को सुनने आएंगे, इसकी कल्पना किसी ने नहीं की थी। रांची का कमिश्नर, डिप्टी कमिश्नर और पुलिस सुपरिटेंडेंट परेशान थे। उन्हें लग रहा था कहीं जयपाल सिंह 'बोल्शेविक' तो नहीं है!

आदिवासी जनसभा को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा, 'यह मेरे जीवन के सबसे महत्वपूर्ण अवसरों में से एक है। मैं लगभग बीस साल से आप लोगों के बीच में नहीं था। अब आप हमारी आर्थिक और राजनैतिक आजादी के लिए, आगे आने वाले संघर्ष में मुझसे नेतृत्व करने के लिए कह रहे हैं। आप मुझे अपने एक ऐसे सेवक, जो आपकी सेवा करे, मुझे आमंत्रित कर सर्वोच्च सम्मान दे रहे हैं। मेरे गुरु स्व. केनोन कॉसग्रेव की अंतिम इच्छाओं में से एक यह थी कि मैं छोटानागपुर वापस आऊं और अपने लोगों को भारत के राष्ट्रीय जीवन में सम्मानजनक स्थान दिलाने के लिए उनका नेतृत्व करूं। मैं पूर्ण निष्ठा के साथ स्वयं को उस कार्य के लिए जो आप मुझे सौंप रहे हैं, उसके महती उत्तरदायित्व तथा महान कठिनाइयों को पूरी तरह समझते हुए समर्पित करता हूं।'

अपने इस वचन को जयपाल सिंह मुंडा ने आजीवन निभाया। अपने अद्भुत सांगठनिक कौशल से उन्होंने आदिवासी सभा को 'अखिल भारतीय आदिवासी महासभा' में बदल दिया। स्वतंत्रता की ओर बढ़ते भारत के नए लोकतांत्रिक समाज में आदिवासियों के हक और भागीदारी के लिए राजनीतिक दल 'झारखंड पार्टी' बनाई। संविधान सभा में अकेले ही देश के आदिवासियों की इच्छा को बुलंद किया। आदिवासी भाषा, संस्कृति और पुरखा स्वशासन व्यवस्था का पारंपरिक हक संविधान में शामिल हो, इसकी पुरजोर वकालत की। दिकू सत्ता और कांग्रेसी सरकार से लड़ते हुए अलग झारखंड राज्य की मांग को राजनीतिक रूप से स्थापित किया। धर्म के नाम पर आदिवासियों को बांटने की हर कोशिश को नाकाम किया और नए भारत में उभरते राजनैतिक परिदृश्य में सभी आदिवासी समूहों को कबीलेपन से बाहर निकाल कर उन्हें आदिवासियत के एक विचार के रूप में संगठित किया। संविधान सभा की बैठकों में उन्होंने हमेशा कहा, 'आदिवासी दुनिया के सबसे प्रजातांत्रिक समुदाय हैं। उनसे नए बनते भारत और भारतीय समाज को लोकतंत्र सीखना होगा। आदिवासियत की सोच में धार्मिक, सांप्रदायिक, जातीय और लिंगगत किसी तरह का भेद नहीं है। ऐसा ही विचार संविधान, यहां की राजनीतिक पार्टियों और इस देश के लोगों का होना चाहिए। झारखंड पार्टी ने आजाद भारत में उनके ही नेतृत्व में छोटानागपुर–संताल परगना की सभी सीटें जीतकर देश को बताया कि आदिवासी अपनी स्वशासन व्यवस्था और सहजीवी विचार–दर्शन छोड़ने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं हैं। उन्होंने देश के लिए आई.सी.एस. का त्याग किया। रंगभेद के कारण अपना प्रिय खेल हॉकी छोड़ा। आदिवासी झारखंड आंदोलन के लिए अपने प्रेम को कुर्बान किया, पत्नी तारा और बच्चों से आजीवन बिछड़े रहे, ऐसा दृष्टांत भारत के और किसी राजनेता के जीवन में नहीं मिलता। वे सच्चे आदिवासी हैं। उनके जैसा स्वप्नद्रष्टा आदिवासी लेखक, पत्रकार, खिलाड़ी, कुशल संगठक, वैचारिक सिद्धांतकार और राजनैतिक अगुआ भारत में कोई दूसरा नहीं हुआ। ❐

देश की विधायी राजनीति पिछड़ी जातियों की उन्नति में बाधक

जयपाल सिंह मुंडा

यह भाषण जयपाल सिंह मुंडा ने 20–21 जनवरी 1939 को रांची में आयोजित आदिवासी महासभा की रैली और आमसभा में दूसरे दिन 21 जनवरी को अंग्रेजी में दिया था। उक्त ऐतिहासिक भाषण का हिन्दी अनुवाद आदिवासी महासभा की पत्रिका 'आदिवासी' के मार्च 1939 में प्रकाशित हुआ था, यह उसी की संपादित प्रस्तुति है। वंदना टेटे द्वारा संपादित 'आदिवासी महासभा : पत्रिका, संगठन और इतिहास' से साभार।

कल मैंने आपको यह बताया था कि आदिवासी–क्रान्ति का क्या उद्देश्य और लक्ष्य है। मैंने आप से यह भी प्रतिज्ञा की थी कि आज मैं आप को यह बताऊं कि किन साधनों के द्वारा आदिवासी लोग हिन्दुस्तान के राजनैतिक जीवन में अपने योग्य एक सम्मानीय स्थान ग्रहण कर सकते हैं । प्रस्तुत कितने विशेष कारणों से यह सभा अभी अपनी सारी शक्ति को छोटानागपुर अधिपत्यका में केन्द्र–स्थित करने में बाध्य हो रही है, परंतु इस आंदोलन का अंतरंग विस्तार और भी अधिक विस्तृत क्षेत्रों में है। हमारे और भी संगी आदिवासी जो अन्य स्थानों में हैं हमारे ख्याल से (आंदोलन में) नहीं उतरे हैं। बम्बई में कुल जनसंख्या 180,00,000 है जिसमें आदिवासी 220000 हैं। मध्य प्रदेश और बेरार में जहां की कुल आबादी 16000000 है हमारे आदिवासी 3000000 होते हैं। बिहार उड़ीसा प्रांत में 55,00000 से ऊपर आदिवासी रहते हैं। दार्जीलिंग जिले में आदिवासियों की तदाद 28,000 है; वे अधिकाधिक भ्रमणप्रेमी होते चले जा रहे हैं । यदि आप अंश 2 में अध्ययन करें कि कितने आदिवासी भौगोलिक विचार से कहां रहते हैं तो पता लगेगा कि आदिवासी लोग सारे हिन्दुस्तान में यहां–वहां बिखरे हुए हैं । उनके योग्य एक शासन–पद्धति को निर्माण करने का अगर नियत होता तब तो अनेक क्षेत्रों को या तो पूर्ण सुरक्षित क्षेत्र अथवा अर्ध–सुरक्षित क्षेत्र कर देना आवश्यक था। परंतु जितनी भी भिन्न–भिन्न सरकारें उन आभागों पर राज करती रही हैं, इन सरकारों को अधिक खर्च का भय, एक बहाना हो गया है जिसके कारण वे इस नये कदम को लेना समुचित नहीं मान करते हैं। सब आदिवासियों को और चाहे वे देशी रियासतों में हों अथवा ब्रिटिश इंडिया में अथवा विदेश ही में क्यों न रहते हों हम अपनी हृदय–अनुभाविक सहानुभूति प्रसारते तथा उन्हें यह निश्चयता दिलाते हैं कि हमारी स्वाधीनता के न्याययुक्त संग्राम में हम उनके साथ हैं और वे हम से एक हैं।

आदिवासी लोग हिन्दुस्तान के प्रचीन और स्वयं निर्वाचित शासक हैं। ये ही वे प्राथमिक फौज़ी–वीर हैं जिन्होंने मानवी निवास की विरोधक शक्तियों को तहस–नहस कर प्रायः मानवी पहुंच से बाहर के स्थानों को भी आबादी बनाया। उन्होंने सघन जंगलों को चौरस मैदान बनाया और जैसे–जैसे ऊपरी आक्रमणों की प्रगति होती गई और उनके आबादी क्षेत्रों और उन्नति के विकास को संकीर्ण करने के लिए दबाव पर दबाव होने लगा, वे और भी विकट क्षेत्रों की ओर बढ़ गया जहां आक्रमणकारियों को पहुंचना कठिन बल्कि असंभव हो गया। आसाम और बिहार–उड़ीसा के प्रांतों में आदिवासियों की आबादी सीमित क्षेत्रों में है तथा उनके पक्ष में कानूनी रक्षा प्रबंध का एक लम्बा इतिहास भी है। वे स्वभावतः शांति–प्रिय लोग हैं और जिस तरह का दमनकारी शासन उन पर लादा गया है उन्होंने अपने अस्तित्व को कायम रखने के विचार से इन बृहद् शक्तियों का सामना करने में अद्वितीय धीरज का परिचय दिया है। यह एक स्मरण करने की ठोस बात है कि मोगल बादशाहों ने इन्हें इस्लाम धर्म में हड़प लेने की नियत से कभी भी इनको पराजित नहीं किया। उनमें इस समय पिछड़ापन होने पर भी उनके धार्मिक और सामाजिक रीति–रस्मों में अनेक आश्चर्य–चकित कर देने वाले पद–चिन्ह प्रकट हैं।

हिन्दू और मुसलमान भाई लोग सामाजिक स्वाधीनता के बिघ्न–बाधाओं से लड़ने को आज खड़े हुए हैं। आदिवासियों ने सैकड़ों वर्ष पहले लोकतंत्र, विवाह–कानून, नर–नारियों की तुल्यता, ग्राम–शासन, और सरल जीवन के प्रश्नों को तय कर लिया है। वे भोले हैं और थोड़े ही में संतोष कर लेते हैं। उनमें व्यक्तिगत और आम नैतिकता के लिये ऊच्च कोटि का आदर है। जो भी आर्थिक विचार से आदिवासी बहुत गरीब हैं फिर भी उनकी आम मनोवृत्ति अक्सर ऊच्च श्रेणी की है। विगत समयों में उन्हें जो कुछ दुर्भाग्य सहन करने पड़े हैं इनके कारण उनकी अज्ञानता, ऋणग्रस्त होना, और गरीबी है। दुर्भाग्य का कारण यह नहीं था कि वे लोकतंत्र से बिल्कुल अनारी थे अथवा कि उनसे अधिक चढ़े–बढ़े लोगों ने आकर उनके हाथों से राजनैतिक अधिकारों को छीन लिया था। आदिवासियों के लिए जो वस्तु आवश्यक है वह अधिक उन्नति वालों से बिछुड़ कर रहना नहीं है। उन्हें प्रयोजन है विशेष कानूनों की

सहायता, आर्थिक सहायता, जिस्ते वे ऋण से उद्धार हो सकें और अपनी खेती की उन्नति, दैनिक आय–व्यय में तरक्की, कारबार को स्थायी आदि कर सकें और इस प्रकार जल्द से जल्द चढ़े–बढ़े वर्गों की एक श्रेणी में स्थान ले सकें। किसी एक से भी बिछुड़ कर अथवा संबंध विच्छेद कर रहने में तो निश्चय ही हिन्दुस्तान के स्वाजातीय जीवन में खलल पड़ेगी।

आदिवासी अभी भी इतने भोले–भाले हैं कि सहज में ही वे दूसरे के हाथ में पुतले बन जाते हैं। उनके लिए कानून रक्षा प्रबंध न होने के कारण वे अनायास ही परदेशियों के शिकार बनते हैं। ये परदेशी लोग आदिवासियों की सम्पत्तियों अर्थात खेत जमीनों को धीरे–धीरे दखल कर लेते हैं और उन्हें जो देश–पुत्र हैं कुलियों और भ्रमणकारी खेतीहार का तगमा पहना देते हैं। जो और भी अधिक आदिवासियों के लिए आवश्यक वस्तु है वह मिनिस्टरों के पंजों से सुरक्षित होना है। ये मिनिस्टर लोग स्थानीय मामलों में बेतरह फंस जाते हैं। उनके राजनैतिक ख्याल में यह आ ही नहीं सकता है कि अधिक चढ़े–बढ़े भागों से जो आम भलाई की वस्तुएं प्राप्त हो सकती हैं उन्हें आदिवासी क्षेत्रों में वितरण करें। कम से कम अबलों मंत्रियों से यह नहीं हो सका है न उनसे होने की संभावना दीख पड़ती है। क्यों? इसलिए कि आदिवासियों का राजनैतिक प्रभाव नहीं है। वे एक मूक अल्पसंख्यक संस्था हैं। एक रंगबिरंगे प्रांत में जहां दो अमेल वाले क्षेत्र यों ही जोड़ दिए गए हैं उसकी व्यवस्थापिका सभा में अगर फंडों की लूट–पाट हो तो छोटानागपुर जो इस सभा का एक निःसहाय अंग है अपनी आम उन्नति के लिये अवश्यकीय तयदाद में रोकड़ पाने के एवज यदि अगिनत रोड़ा न पावे तो और क्या पा सकता है? स्थिर विश्वास के लिए न नेव न स्थान है जिसके भरोसे हम यह कह सकते हैं कि बिहार के नेतागण भविष्य में पिछड़ी जातियों की मांगों और हकों को सुरक्षित रखने के लिए उपयुक्त इंतजाम कर सकेंगे। इन बेचारों की हकीयतें या तो जान बूझ कर रौंदी जाती हैं अथवा अधिकारियों में सेवात्मक हृदयों के अभाव से इन गरीबों को वह ख्याल से उतार दिया जाता है। आदिवासियों की ठोस–ठोस आवश्यकतों को वह व्यवस्थापिका सभा शायद ही सुयोग्य महत्व दे सकेगी जिसके अधिकांश मेम्बर का आदिवासियों से परिचय तक नहीं हुआ है।

मैं शक्तिभर जोर देकर पेश कर रहा हूं कि सरकार की नीति में यह रजिस्ट्री किए हुए पट्टे की नाई अंकित रहे कि उस नीति में हरेक का समान स्थान है। भिन्न–भिन्न जाति, समाज, सभ्यता को रखते हुए एक नीति निर्माण कर लेने से सारा कार्यक्रम रुक जाएगा, यह ख्याल हर समय रखना बुद्धिमानी नहीं है। मुझे कोई कारण नहीं दीखता कि आदिवासियों में जो अच्छी–अच्छी रीत–रस्में हैं वे क्यों सुरक्षित न रखे जाएं, उन्हें आदर क्यों न दिया जाए और उन्हें विकास होने से क्यों रोका जाए। मैं समझ नहीं सकता कि क्यों आदिवासियों की शिक्षा, शिक्षा का आम प्रचार, सफाई और स्वास्थ्य का प्रबंध, खेती की बकायदा शिक्षा आदि–आदि काम प्रचलित आदिवासियों के बालिग विवाह की प्रथा बिना छूआछूत के खाना–पीना और इसी प्रकार के अन्य मामूली परंतु अन्य विचारों से जो उच्च कोटि की प्रथाएं हैं आदिवासियों की अपनी खास सम्पति में से हैं, इनके साथ भलाई के काम अगल–बगल नहीं चालू की जा सकतीं।

असली भय हमें इस कारण हो रहा है कि जमीन की आमदनी और कानूनात शासन अब जनता के प्रतिनिधियों अर्थात् मिनिस्टरों के हाथ आ गया है और उन्हीं के जरिये व्यवस्थापिका सभा में अनेक दूर व्यापी रद्दोबदल किए जा रहे हैं जिनसे औरों की तो भलाई परंतु आदिवासियों की क्षति हो रही है। जंगल विभाग के छोटे कारिंदों का अत्याचार, जंगल विभाग संबंधी दोषों के लिए उच्च दर्जे की कार्रवाई, चराई, जलावन, घास और फल आदि को भोग करने में रोक छेक की बातें मिल कर जंगलों में रहने वाले आदिवासियों को कठिन धक्का पहुंचाते हैं। उसकी शिकायतों की पहुंच तो प्रायः बड़े अफसरों के पास होती ही नहीं चाहे वह अफसर जंगल विभाग या जमीन विभाग का हो और इस प्रकार उनके प्रायः सब मुकदमे व फैसले के बकाये रह जाते हैं। वर्त्तमान कानून–पद्धति की खिचड़ी और कानूनात कार्रवाइयां आदिवासियो की आवश्यकताओं के विचार से सोलहों आने विपरीत हैं। इन कानूनों से आदिवासियों को और भी असुभीते हो जाती हैं, क्योंकि वे सब जज महाशय गण जो इस पद्धति को काम में लाते है दो एक को छोड़ बाकी सब आदिवासियों के प्रति हृदय रहित हैं। दिवानी अदालतों के उन कागजादों को जहां आदिवासियों का संबंध है देखने पर किसी भी निष्पक्ष सज्जन को इस कथन का रहस्य मालूम हो जाएगा। एक विशेष बात यह भी है कि जंगली गांवों में जो जंगल विभाग के मातहत हैं डाक्टर लोग कभी देखरेख करने नहीं जाते हैं। जो भी सफाई और स्वास्थ्य विभाग के नियमों के अनुसार वे वहां जाने को बाध्य हैं।

कचहरियों में हर कहीं अन्य गरीबों की नाई आदिवासी लोग पैसा न रहने के कारण वकीलों का पूरा नफा नहीं उठा सकते हैं। उन्हें कानूनी और न्याय की अदालतों में बहुत–सी विघ्नों को झेलना पड़ता है। खास कर के दिवानी अदालतों में अगर ऋण पैचा करके उनके पास काफी पैसा वकील खर्चा के लिए हो भी गया, उन्हें यह विश्वास करने के लिए स्थान नहीं मिलता कि उनका अपना वकील विरोधक दल वालों से न्यायपूर्वक पेश आएगा। "मिडिंग मिडिंग ऐयाने" एक गोंड़ भाषा में कहावत है जिसका अनुवाद एक विख्यात गोड़ भाषा के व्याकरण पुस्तक में दिया है अर्थात् "कचहरी के अहाते में एक घबड़ाये तुए गोड़ की नाई जो नहीं जानता कि वहां जाना और कि किससे कहना पूछना है इधर–उधर टक्कर खाते फिरना।" यह कहना

करीब सच ही है कि जनता के जितने कंगाल लोग हैं उनका ख्याल यह है कि अदालत उनके कानून के रास्ते से तबाह करने का स्थान है न कि उनके विकास देने का।

आदिवासी जनता राजनैतिक विचार से मौन है और इसीलिए वे किसी के दृष्टि–पथ अथवा ख्याल में नहीं आते। वर्तमान राजनैतिक संगठन में जो सरकार की ओर से है उसमें आदिवासी जनता निज पृथक स्वभाव के कारण नहीं मिल सकती न यह संभव ही है और इसलिए उनका इस संगठन में अब होना और न होना बराबर है। आदिवासी लोग निज स्वदेश में ही पूरे गुलाम बना दिए गए हैं। नैतिक और आर्थिक उन्नति के विचार से आम तौर पर शिक्षा–विभाग के पंडितों और स्वदेश निर्माण विभाग के अधिकरियों को कुछ खास समस्याओं का सामना करना पड़ता है क्योंकि आदिवासियों में अबलों प्राथमिक दृष्टिकोण और पिछड़ापन बचा हुआ है। यहां कह देना आवश्यक है कि आदिवासी समस्याओं को रूढ़िगत पद्धतियों से हल नहीं किया जा सकता। आबकारी कानूनों से भी आदिवासियों का समाजिक जीवन और दैनिक खर्च–बर्च का सीधा संबंध है। अभी चारों ओर से आवाज आ रही है कि बिहार प्रांत के लिए निर्माणाधीन कानून भोट में छोटानागपुर की परिस्थिति के विचार से सच में ही भोथड़ा है। आदिवसियों के बीच धार्मिकविधि अनुसार मद्य एक प्रयोजनीय वस्तु है। इसलिये हिन्दू और मुसलमान राजनीतिज्ञों की ओर से मद–निषेध की जो चर्चा हो रही हैं, वह आदिवासियों के विचार से एक मूक लघु संख्यक समाज पर युक्तिहीन अत्याचार है। 'आप एक सामाजिक कुआदातों पर रोक लगा सकते हैं, परंतु उनकी धार्मिक क्रियाओं (अधिकारों) को हर्गिज छू नहीं सकते।'

चूंकि आदिवासी जनता ज्यादातर सरकार के शासन विभाग की मर्जी के भरोसे रहती है और व्यवस्थापिका–सभा के भरोसे कम, इसलिए यह परमावश्यक है कि सरकार उन्हें शासन संबंधी आवश्यक विषयों में योग्य बनावे। अर्ध–सुरक्षित प्रबंध, मुझे अफसोस है कि हमें अश्वासन नहीं देती है कि आदिवासियों की दीन अवस्था की उन्नति के लिए इस प्रबंध के द्वारा सारे मन और सुहृदय से कोशिश किया जाएगा। हमें एक अलग प्रांत लेना ही है, जो स्वशासित हो, जहां की शासन–प्रणाली आदिवासियों की आवश्यकतों के अनुसार सुसज्जित की गई हो, जिस शासन का एक ही उद्देश्य यह हो कि आदिवासियों में सुधार और उन्नति किस प्रकार की जाए। छोटानागपुर और संताल परगनों का इतिहास आदिवासियों पर गुजरे हुए अत्याचारों और उनके जमीनों की लूट–पाट की एक लम्बी कहानी है। फलस्वरूप लोगों में अशांति फैलती गई। और अंत में एक उपद्रव भी खड़ा हो गया जिसका अंत यह निकला कि उनके लिए एक विशेष कानूनी रक्षा–प्रबंध का निर्माण हुआ। फिर भी मौजूदा रैयती कानून पर्याप्त नहीं है।

मैंने ऊपर यह दिखाने की कोशिश की है कि वर्तमान शासन चक्र के द्वारा किस प्रकार आदिवासी लोग चारों ओर से पीसे जा रहे हैं। अब मुझे फरमाना है कि किन–किन राहों और साधनों के द्वारा वे तुरंत अपनी हीन अवस्था को सुधारने के लिए एक रचनात्मक कार्यक्रम आरंभ कर सकते हैं। सबसे सोचनीय बात तो यह है कि वे अपने पेट गुज़ारा के लिए खेती को छोड़ किसी भी दूसरे धंधे या करोबार में हाथ नहीं डालते। उनमें कोई, दर्जी नहीं, लोहार नहीं, जोलहा नहीं, बढ़ई नहीं, न कोई सोनार हैं। उन्हें यह मालूम नहीं है कि बैलगाड़ी से क्या मुनाफा होता है। उनके पास बैल मौजूद हैं पर उनसे तिजारती काम नहीं लिया जाता। आपने दूकानी काम करने, गांवों के पंचों शाखा कमिटियों को छोटे–मोटे मार–मुकदमों को फैसला करने, बगान का काम करने, वृक्ष लगाने, ऋण की तबाही से बचने के लिए खुद ही फंडों का प्रबंध करने आदि–आदि फा युक्तिसंगत साधनों का वर्णन किया। आप ने तिजारती शिक्षा की विशेषता पर जोर देकर यह कहा कि हमारी कोशिश है कि हम इस विषय में सीधे लंदन से संबंध स्थापित करें। खबर कागज को बढ़ाने, मेम्बरशिप को बढ़ाने और भक्ति क्षौर शक्ति के साथ आदिवासी सभा की संभालने की अपील आपने की। ❒

नेपाल की जाति गणना

प्रस्तुति : सबाल्टर्न डेस्क

जाति प्रथा पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में बहुत गहरे व्याप्त रही है। आधिकारिक जातिवार आंकड़ों के अभाव में जहां अलग–अलग जातियों की स्थितियों के बारे में हमेशा संशय बना रहता है, इनमें हस्तक्षेप की मुकम्मल रणनीति व कार्यनीति तैयार करने में भी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। भारत में साल 2011 से ही जाति जनगणना अधर में लटकी हुई है, जबकि आपको यह जानकर सुखद आश्चर्य होगा कि नेपाल की जनगणना में जाति संबंधी आंकड़ें एकत्र किए जाते हैं। जहां तक ब्राह्मणवादी जातीय वर्चस्व का सवाल है नेपाल कहीं से भी भारत से पीछे नहीं है, बल्कि वहां जातीय जकड़न और भी मजबूत है।

नेपाल भारत की तरह ही हिन्दू बहुल देश है– वहां करीब 80 फीसदी आबादी हिन्दू धर्म के अनुयायी की है। तीन भौगोलिक क्षेत्र– पहाड़, ऊंचे पर्वतीय क्षेत्र और तराई में क्रमशः पहाड़ी, जनजाति और मधेशी जैसी बड़ी आबादियों के बीच नस्लीय विभाजन इस छोटे से देश को जनसंख्कीय रूप से जटिल बना देते हैं। हिन्दू धर्म पोषित जातीय विभाजन मधेशी सहित पहाड़ी और बड़ी जनजातियों में भी मौजूद है। उदहारण के लिए नेवार जनजाति में अकेले 25 तरह के जातीय सोपानक्रम हैं। इसमें बौद्ध और हिन्दू दोनों सम्मिलित हैं। नेपाल की जाति जनगणना शायद उतनी तफ्सील में नहीं जाती।

राणाशाही के ज़माने में हिन्दू धर्म को पैन नेपाल स्वरूप देने की कोशिशें हुईं, इस प्रक्रिया में कुछ जनजातियों में हिन्दू धर्म का काफी सुदृढ़ीकरण हुआ। फलतः पश्चिमी पर्वतीय क्षेत्र के कुछ जनजातियों, खासकर लगभग पूरी की पूरी खास जनजाति में से बड़े पैमाने पर लोगों का क्षेत्री जाति में आरोहन हुआ। नेपाल में क्षेत्री जाति की बड़ी संख्या में मौजूदगी का एक कारण यह भी गिना जाता है।

बहरहाल, हम यहां इन सब चीजों के विस्तार में न जाकर, नेपाल की जनगणना के जाति संबंधी कुछ आंकड़ें प्रस्तुत कर रहे हैं। उम्मीद है कि पाठकों को पड़ोसी देश नेपाल की जाति संरचना के बारे में एक समझ बनेगी और भारत में जाति जनगणना के निष्कर्षों को अविलम्ब जारी करने के लिए चल रहे अभियान को गति मिलेगी।

जाति/जनजाति : 2011 की जनगणना के अनुसार नेपाल में 126 जाति/जनजाति समूह हैं। नेपाल की कुल आबादी में क्षेत्री सबसे बड़ा जाति/जनजाति समूह है 16.6% (4,398,053)। उसके कुछ बड़े जाति/जनजाति समूहों का क्रम इस प्रकार हैः ब्राह्मण (पहाड़) (12.2%; 3,226,903), मगर (7.1%; 1,887,733), थारु (6.6%; 1,737,470), तमांग (5.8%; 1,539,830), नेवार (5%; 1,321,933), कामी (4.8%; 1,258,554), मुस्लिम (4.4%; 1,164,255), यादव (4%; 1,054,458) और राइ (2.3%; 620,004).

जनसंख्या का आकार, वृद्धि और वितरण : जनगणना के मुताबिक (जून 22, 2011) को इसकी आबादी 26,494,504 थी। पिछले दशक आबादी में 3,343,081 वृद्धि दर्ज की गई और औसत वार्षिक वृद्धि दर 1.35 प्रतिशत थी। तराई की आबादी कुल आबादी का 50.27 (13,318,705) प्रतिशत है, जबकि पहाड़ों और ऊंचे पर्वतीय क्षेत्रों में यह क्रमशः 43 प्रतिशत (11,394,007) और 6.73 प्रतिशत (1,781,792) है। पांच विकास क्षेत्रों में केन्द्रीय विकास क्षेत्र में सबसे अधिक आबादी

है (36.45 प्रतिशत) जबकि सुदूर पश्चिमी क्षेत्र में सबसे कम आबादी है (9.63 प्रतिशत)।

मातृ भाषा : 2011 की जनगणना के अनुसार 123 भाषाएं मातृभाषा के रूप में बोली जाती है। नेपाली सबसे अधिक लोगों द्वारा बोली जाती है (44.6 प्रतिशत (11,826,953)। इसके बाद का क्रम हैः मैथिली (11.7%;; 3,092,530), भोजपुरी (5. 98%; 1,584,958), थारु(5.77%; 1,529,875), तमांग (5.11%; 1,353,311), नेवार (3.2%; 846,557), बज्जिका (2.99%; 793,418), मगर (2.98%; 788,530), दोतेली (2.97%; 787,827), उर्दू (2.61%; 691,546)।

धर्म : आंकड़ों के अनुसार 10 तरह के धर्म को मानने वाले मौजूद हैं। हिन्दू धर्म को मानने वाले सबसे ज्यादा हैं 81.3 प्रतिशत (21,551,492)। इसके बाद हैंः बौद्ध (9%; 2,396,099), इस्लाम (4.4%; 1,162,370), किरात (3.1%; 807,169), इसाई (1.4%; 375,699), प्रकृति (0.5%; 121,982), बॉन(13,006), जैन (3,214), बहाई (1,283) और सिख (609)।

नेपाल की जनगणना, 2011 में जाति समूहों का वर्गीकरण और प्रतिशत

3 व्यापक श्रेणियां	5 सामाजिक समूह	10 सामाजिक समूहों का पूरी जनसंख्या में अलग–अलग अनुपात (% में)	125 जाति / जनजाति / राष्ट्रीयता	गरीबी रेखा के नीचे (% में)
हिन्दू जाति समूह	ब्राहमण–छेत्री और अन्य (4658%)	पहाड़ ब्राह्मण (12.18%)	ब्राहमण, क्षेत्री, ठाकुरी, संन्यासी / दस्मानी	10.34
		पहाड़ क्षेत्री (16.6%) ठकुरी, सन्यासी (2.47%		23.40
		मधेशी ब्राह्मण (0.97%)	ब्राह्मण, कायस्थ, राजपूत, बनिया, मारवाड़ी, जैन, नुरंग बंगाली	18.61
		मधेशी अन्य जातियां (14.36%)	अमात, बढ़ई, बरइ, बिन, धनकर, धुनिया, गड़ेरी, हजाम, हलवाई, कहार, कलार, कलवार, कामर, कानू, कथाबनियां, केवट, कोइरी, कोरी, कुम्हार, कुर्मी, लोध, लोहार, माली, मल्लाह, नटुआ, नुनिया, राजभर, राजधोब, सरबरिया, सोनार, सूढ़ी, तेली, यादव	28.69
	दलित (13.11%)	पहाड़ी दलित (8.12%)	बदी, दमई / ढोली, गेने, कामी, सरकी	38.16
		मधेशी दलित (4.99%)	बांतर, चमार, चिड़ीमार, धोबी, दुसाध, हलखोर, खात्वे, मुसहर, ततमा	43.63
जनजाति	नेवार (4.99%)	नेवार (4.99%)	नेवार	10.25
	अन्य जनजाति (30.82%)	पहाड़ी जनजाति (22.19%)	आठ्परिया, बहिंग, बंताबा, भोटे, ब्रह्मु, बयासी / सुका, चामलिंग, चेपांग / प्रजा, छन्त्याल, दनुवार, दराइ, डोल्पो, दुरा, घाले, घरती / भुजेल, गुरुंग, ह्यु, जिरेल, खालिंग, खवास, किसान, कोएचे, कुलुंग, कुमाल, कुसुंडा, लेप्चा, ल्होमी, ल्होपा, लिम्बू, लोहारुंग, मगर, माझी, मेवाहंग बाला, नाछिरिंग, नेवार, पहारी, राइ, राजी, रौउते, सम्पंग, शेर्पा, सुनुवार, तमांग, थकाली, थुलुंग, तोप्केगोला, वलुंग, याक्खा, यम्फु,	28.25
		तराई जनजाति (8.52%)	बोटे, धनुक, धीमल, गंगई, धाँगड़ / झांगर, मेचे, मुंडा, पत्थरकट्टा / कुश्वादिया, राजवंशी, सतार / संथाल, ताजपुरिया, थारु	25.93
मुस्लिम	मुस्लिम (4.39%)		मुस्लिम	20.18
अन्य	अन्य (0.03:)	अन्य (0.03:)	पंजाबी / सिख	12.34

स्रोतः जनगणना, 2011,सेंट्रल ब्यूरो ऑफ़ स्टेटिस्टिक्स, 2011, नेपाल सरकार

नेपाल की जनगणना, 2001 में विभिन्न जातियों/जनजातियों का जनसंख्या के अनुपात में प्रतिशत

जाति	प्रतिशत	जाति	प्रतिशत	जाति	प्रतिशत	जाति	प्रतिशत
1. क्षेत्री	15.80	27. ब्राह्मण (तराई)	0.59	53. धांगड़/झांगर	0.18	79. गाईने	0.03
2. ब्राह्मण (पहाड़)	12.74	28. बनिया	0.56	54. बांतर	0.16	80. जिरेल	0.02
3. मगर	7.14	29. धर्ती/भुजेल	0.52	55. बरई	0.16	81. आदिवासी	0.02
4. थारु	6.75	30. मल्लाह	0.51	56. कहार	0.15	82. दुरा	0.02
5. तामाड़	5.64	31. कलवार	0.51	57. गनगाई	0.14	83. चुरौटे	0.02
6. नेवार	5.48	32. कुमाल	0.44	58. लोध	0.11	84. बादी	0.02
7. मुस्लिम	4.27	33. हजाम	0.43	59. राजभर	0.11	85. मेचे	0.02
8. कामी	3.94	34. कानू	0.42	60. थामी	0.10	86. लेप्चा	0.02
9. यादव	3.94	35. राजवंशी	0.42	61. धिमाल	0.09	87. हलखोर	0.02
10. राई	2.79	36. सुनुवार	0.42	62. भोटे	0.08	88. सिख	0.01
11. गुरुड	2.39	37. सूढ़ी	0.40	63. बिन्द/बिंडा	0.08	89. किसान	0.01
12. दमाई/ढोली	1.72	38. लोहार	0.36	64. भेड़ियार	0.08	90. राजी	0.01
13. लिम्बू	1.58	39. ततमा	0.34	65. नुराड	0.08	91. ब्याड्सी	0.01
14. ठकुरी	1.47	40. खत्वे	0.33	66. याक्खा	0.07	92. हायु	0.01
15. सार्की	1.40	41. धोबी	0.32	67. दराई	0.07	93. कोचे	0.01
16. तेली	1.34	42. माझी	0.32	68. ताजपुरिया	0.06	94. धुनिया	0.01
17. चमार	1.19	43. नुनिया	0.29	69. थकाली	0.06	95. बालुड़	0.01
18. कोइरी	1.11	44. कुम्हार	0.24	70. चिड़ीमार	0.05	96. जैन	0.00(1,015)
19. कुर्मी	0.94	45. दनुवार	0.23	71. पहारी	0.05	97. मुंडा	0.00(660)
20. संन्यासी	0.88	46. चेपाड़/प्रजा	0.23	72. माली	0.05	98. राउते	0.00(658)
21. धानुक	0.8	47. हलुवाई	0.22	73. बंगाली	0.04	99. ह्याल्मो	0.00(579)
22. मुसहर	0.76	48. राजपूत	0.21	74. छंटेल	0.04	100. पत्थरकट्टा	0.00(552)
23. दुसध/पासवान	0.70	49. कायस्थ	0.20	75. डोम	0.04	101. कुसुंडा	0.00 (164)
24. शेर्पा	0.68	50. बढ़ई	0.20	76. कमार	0.04	102. अन्य दलित	0.76
25. सोनार	0.64	51. मारवाड़ी	0.19	77. बोटे	0.04	103. नाखुलेको	1.02
26. केवट	0.60	52. संथाल/सतार	0.19	78. ब्रह्मु/बरमू	0.03	–	–

स्रोतः जनगणना, 2001,सेंट्रल ब्यूरो ऑफ़ स्टेटिस्टिक्स, 2001, नेपाल सरकार

हैप्पी बर्थ–डे कार्ल मार्क्स! आप सही थे!

जैसन बार्कर

कार्ल मार्क्स
(5 मई, 1818–14 मार्च, 1883)

सियोल, दक्षिण कोरिया – कार्ल मार्क्स का जन्म 5 मई 1818 के दिन दक्षिणी जर्मनी के त्रियेर शहर में, मोसले घाटी के सुरम्य शराब–उत्पादक क्षेत्र में हुआ था। उस जमाने में त्रियेर का आकार आज के मुकाबले दसवां हिस्सा था, और वहां की आबादी लगभग 12,000 थी। मार्क्स के हाल के एक जीवनी लेखक जुर्गन नेफे के अनुसार त्रियेर उन शहरों में से एक है जहां "हालांकि हर कोई हर दूसरे को नहीं जानता है, लेकिन बहुत से लोग बहुतों के बारे में बहुत कुछ जानते हैं।"

इस किस्म की भौगोलिक सीमाएं मार्क्स के असीम बौद्धिक कौतूहल से तनिक भी मेल नहीं खाती थीं। उनके समय के प्रमुख यूरोपीय राजधानियों में शायद ही कोई रैडिकल चिंतक होगा जिसके साथ मार्क्स मिल न पाए हों या जिनके साथ सैद्धांतिक आधार पर उन्होंने अपना रिश्ता न तोड़ लिया हो– इनमें उनके जर्मन समकालीन विल्हेम विट्लिंग और ब्रूनो बावेर से लेकर फ्रांसीसी "बुर्जुआ समाजवादी" पियरे जोसेफ प्रूधों, जैसा कि "कम्युनिस्ट घोषणापत्र" में मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स ने उनपर लेबेल चस्पा किया था, और रूसी अराजकतावादी मिखाइल बाकुनिन तक शामिल थे।

1837 में मार्क्स ने कानून के क्षेत्र का अपना कैरियर त्याग दिया जिसके बारे में उनके पिता, जो खुद एक वकील थे, ने सपना बुना था। इसके बजाय वह बर्लिन विश्वविद्यालय में जी.डब्लू.एफ. हेगेल के काल्पनिक दर्शन में डूब गए। आप कह सकते हैं कि यहीं से उनके जीवन में एक ढलान शुरू होती है। प्रशिया की अत्यंत रूढ़िवादी सरकार इस तरह के क्रांतिकारी विचारों के प्रति जरा भी उदारता नहीं दिखाती थी (हेगेल का दर्शन बुद्धिसम्मत उदार राज्य की वकालत करता था), और अगले दशक की शुरूआत में ही यूनिवर्सिटी प्रोफेसर बनने का मार्क्स का अपना पसंदीदा रास्ता बंद हो गया।

लेखक क्यूंगही विश्वविद्यालय, दक्षिण कोरिया में दर्शनशास्त्र के एसोसिएट प्रोफेसर हैं। 'मार्क्स रिटर्न्स' उनका चर्चित उपन्यास है।

अगर दर्शन के खतरों का कभी कोई पक्का मामला सामने आया, तो वह यकीनन मार्क्स द्वारा हेगेल की खोज थी, जिनके भोड़े व बेसुरे राग ने पहले तो उन्हें विकर्षित किया था, लेकिन जल्द ही इससे प्रभावित होकर वह इसके दीवाने बन गए। मार्क्स ने उसी दीवानगी में नवंबर 1837 में अपने पिता को लिखी एक चिट्ठी में स्वीकार किया, "मैं सड़क के कोने–कतरे पर खड़े हर व्यक्ति को गले लगाना चाहता था।"

आज जब हम मार्क्स की दूसरी जन्म–शतवार्षिकी में पहुंचे हैं, तो उनकी खतरनाक और उन्मादी दार्शनिक विरासत से हम क्या सबक ले सकते हैं ? मार्क्स के स्थायी योगदान ठीक–ठीक क्या हैं ? आज वह विरासत जीवंत और मुखर प्रतीत होती है। इस सहस्राब्दि के शुरू से ही विद्वत्तापूर्ण रचनाओं से लेकर लोकप्रिय जीवनियों तक, अनगिनत पुस्तकें छपी हैं जिनमें पूंजीवाद के बारे में मार्क्स के विश्लेषण और हमारे नव–उदारवादी युग तक उसकी चिरस्थायी प्रासंगिकता के बारे में आम तौर पर हामी भरी गई है।

सन् 2002 में फ्रांसीसी दार्शनिक एलेन बैडियो ने लंदन में आयोजित एक सम्मेलन में, जिसमें मैं भी शामिल था, यह घोषणा की थी कि मार्क्स मध्य वर्ग के दार्शनिक हो गए हैं। उनके कहने का क्या मतलब था ? यकीनन, उनका मतलब यह था कि शिक्षित उदारवादी विचार आज मार्क्स के इस बुनियादी सिद्धांत को सही मानने पर कमोबेश एकमत है कि पूंजीवाद गहरे रूप से विभाजित वर्ग संघर्ष से संचालित होता है जिसमें अल्पसंख्यक शासक वर्ग बहुसंख्यक मजदूर वर्ग का अतिरिक्त श्रम मुनाफा के रूप में हस्तगत कर लेता है। यहां तक कि नारेल राबिनि जैसे उदारवादी अर्थशास्त्री भी इस बात से सहमत हैं कि मार्क्स की इस मान्यता में आज भी वह भविष्यदृष्टि निहित है कि पूंजीवाद

के अंदर खुद को विनष्ट करने की प्रवृत्ति मौजूद है। लेकिन यहीं आकर यह मतैक्य अचानक भंग हो जाता है। जहां अधिकांश लोग पूंजीवाद के बारे में मार्क्स के विश्लेषण से सहमत हैं, वहीं इसकी "गड़बड़ियों" से निपटने के तौर–तरीकों को लेकर वे पूर्णतः विभाजित हैं। और यही वो जगह है जहां दार्शनिक के बतौर मार्क्स की मौलिकता और चरम महत्व से हमारा साक्षात्कार होता है।

सबसे पहले हमें स्पष्ट हो जाना चाहिए: मार्क्स ने वैश्विक पूंजीवाद द्वारा अनिवार्य तौर पर उत्पन्न प्रचंड सामाजिक और आर्थिक अंतर्विरोधों के लिए किसी जादुई फार्मूले की खोज नहीं की। (आक्सफैम के अनुसार, 2017 में जितनी वैश्विक संपदा उत्पन्न की गई, उसका 82 प्रतिशत हिस्सा दुनिया के 1 प्रतिशत सबसे धनी लोगों के हाथों चला गया)। बहरहाल, अपने स्व–घोषित भौतिकवादी चिंतन के जरिये मार्क्स ने उन आलोचनात्मक औजारों का पता लगाया जिससे अखाड़े के अकेले पहलवान होने के पूंजीवाद के विचारधारात्मक दावे खंडित किया जा सके।

"कम्युनिस्ट घोषणापत्र" में मार्क्स और एंगेल्स ने लिखा, "जिन पेशों के संबंध में अब तक लोगों के मन में आदर और श्रद्धा की भावना थी, उन सबका प्रभामंडल पूंजीपति वर्ग ने छीन लिया। डॉक्टर, वकील, पुरोहित, कवि और वैज्ञानिक, सभी को उसने अपना उजरती मजदूर बना लिया।"

मार्क्स को यकीन था कि पूंजीवाद जल्द ही इनका विनाश कर देगा। मसलन, आजकल कृत्रिम बुद्धि जिस तरह से मेडिकल जांच और सर्जरी के क्षेत्र में अपनी पैठ बना रही है, उससे "घोषणापत्र" में दिया गया यह तर्क ही सही साबित होता है कि प्रौद्योगिकी का विकास "श्रम विभाजन" अथवा पेशागत कुशलताओं के क्षरण को अत्यधिक तीव्र कर देगा।

यह समझने के लिए कि मार्क्स कैसे इस चिरस्थायी वैश्विक नतीजे पर पहुंचे– ऐसा नतीजा जो तार्किक रूप से उनके पूर्व और बाद के किसी भी दार्शनिक की सोच से वृहत्तर और व्यापकतर था– हम हेगेल के साथ उनके रिश्ते से शुरू कर सकते हैं। हेगेल की कृति में ऐसा क्या था जिसने मार्क्स को इतना वशीभूत कर लिया था? जैसा कि उन्होंने अपने पिता को बताया, हेगेल की ''प्रणाली" – जो निषेधों और अंतर्विरोधों के एक के ऊपर एक उठते संस्तरों पर निर्मित होती है – के साथ समागम ने उन्हें पूर्णतः प्रभावित नहीं कर लिया था।

मार्क्स ने देखा कि 18वीं सदी के अंत का इमैनुएल कांट और जोहान गोटलिएब फिशे का आदर्शवाद, जो 19वीं सदी की शुरूआत के दार्शनिक चिंतन पर हावी था, स्वयं चिंतन को ही प्रमुख स्थान देता है – इस हद तक कि यथार्थ को भी बौद्धिक तर्क–वितर्क के जरिये फलीभूत किया जा सकता है। लेकिन मार्क्स ने उनके इस यथार्थ को स्वीकार करने से इनकार कर दिया। विडंबनापूर्ण हीगलीय घुमाव के साथ, उनके लिए मामला बिल्कुल उल्टा था: यह भौतिक विश्व है जो तमाम चिंतन को निर्धारित करता है. जैसा कि मार्क्स ने अपने पत्र में लिखा, "अगर पहले ईश्वर पृथ्वी के ऊपर वास करते थे, तो अब वे इसके केंद्र में आ गए हैं।"

ईश्वर जन समुदाय के बीच अथवा उनके अंदर रहता है – यह विचार निश्चय ही दार्शनिक रूप से नया नहीं था। मार्क्स की नई खोज ने ईश्वर या किसी भी दैविक सत्ता की अवास्तविक मौन स्वीकृति को सर के बल खड़ा कर दिया। जहां हीगेल एक बुद्धिसम्मत उदार राज्य की वकालत तक आकर थम जाते थे, वहीं मार्क्स उनसे एक मंजिल और आगे जाते थे: चूंकि ईश्वर अब दैवीय नहीं रह गया है, तो अब राज्य की भी कोई जरूरत नहीं रह गई है।

वर्गविहीन और राज्यविहीन समाज का विचार मार्क्स और एंगेल्स, दोनों के कम्युनिज्म के लिए, और निश्चय ही 20वीं सदी में मूर्त रूप लेने वाले कम्युनिस्ट "राज्यों " (क्या विडंबना है) के उथल–पुथल भरे बाद के इतिहास के लिए भी निर्धारक तत्व था। इनके विध्वंस से हमें अभी भी बहुत कुछ सीखना बाकी है, लेकिन कम से कम यह तो कहा ही जा सकता है कि उनकी दार्शनिक प्रासंगिकता संदिग्ध बनी हुई है।

हमारे मौजूदा समय के समाज में मार्क्स की बौद्धिक विरासत का मुख्य तत्व 'दर्शन' नहीं, बल्कि 'आलोचना' है – जिसे उन्होंने 1843 में बताया था: "सब कुछ जो मौजूद है, उसकी निर्मम आलोचना" – दोनों ही अर्थों में निर्मम, यानी आलोचना जिन निष्कर्षों पर पहुंचती है, उससे भयभीत न होने के अर्थ में, और सत्ताधीशों के साथ टकराव पैदा होने से भी उससे न डरने के अर्थ में। "मार्क्स ने 1845 में लिखा, "दार्शनिकों ने अब तक दुनिया की व्याख्या की है, सवाल तो इसे बदलने का है।"

नस्ली और यौन उत्पीड़न को वर्ग शोषण की गत्यात्मकता में जोड़ लिया गया है। 'ब्लैक लाइव्स मैटर' और 'मी टू' जैसे सामाजिक आंदोलन हमारे जमाने के "शाश्वत सत्यों" को बेधड़क निशाना बनाकर कुछ हद तक मार्क्स के अनकहे कर्जदार बन जाते हैं। ऐसे आंदोलन मानते हैं, जैसा कि मार्क्स ने माना था, कि वे विचार जो हर समाज को शासित करते हैं, इसके शासक वर्गों के विचार होते हैं, और कि सच्ची क्रांतिकारी प्रगति के लिए इन विचारों को उलट देना बुनियादी रूप से जरूरी है।

हमलोग एक चलताऊ मंत्र के अभ्यस्त हो गए हैं कि समाज में बदलाव लाना है तो हमें पहले खुद को बदलना होगा। लेकिन प्रबुद्ध अथवा विवेकसम्मत चिंतन ही पर्याप्त नहीं है, क्योंकि पुरुष विशेषाधिकारों और सामाजिक सोपानक्रम ने चिंतन के मानक को ही, यहां तक कि हम जिस भाषा का इस्तेमाल करते

हैं उसे भी, तोड़–मरोड़ दिया है। इन मानकों को बदलने का मतलब है समाज की बुनियाद को ही बदल देना।

मार्क्स का एक उद्धरण हैः ”कोई सामाजिक व्यवस्था तबतक ध्वस्त नहीं होती है जबतक कि तमाम उत्पादक शक्तियां, जिनके लिए वह व्यवस्था पर्याप्त है, उससे आगे नहीं विकसित हो जाती हैं, और कोई उच्चतर उत्पादन संबंध तबतक पुराने उत्पादन संबंध को विस्थापित नहीं करता है जबतक कि उसके अस्तित्व की भौतिक शर्तें पुराने समाज के गर्भ में परिपक्व न हो जाएं।”

एक नए समाज में संक्रमण, जहां पूंजी–संबंधों के बजाय लोगों के बीच के रिश्ते अंततः हर एक व्यक्ति की योग्यता को निर्धारित करें, तर्कसाध्य रूप से भारी कार्यभार साबित हो रहा है। जैसा कि मैंने कहा, मार्क्स सामाजिक बदलाव को अंजाम देने के लिए कोई सर्व रोग–हर सूत्र पेश नहीं करते हैं। किंतु वे उस बदलाव के लिए एक मजबूत बौद्धिक परीक्षण जरूर प्रदान करते हैं। इस आधार पर, हम उन्हें उद्धृत करते रहने और उनके विचारों की परीक्षा करते रहने को नियतिबद्ध हैं, जब तक कि उस किस्म का समाज अंततः साकार नहीं कर लिया जाता जिसे हासिल करने के लिए वह संघर्ष करते रहे थे और हमारी लगातार बढ़ती तादाद अब जिसकी चाहत कर रही है।

(द न्यूयार्क टाइम्स, 30 अप्रैल, 2018 से साभार, अनुवाद– राकेश)

❐

मार्क्स की पहली जन्मशती पर ग्राम्शी

मार्क्स ने कोई छोटा सुंदर सिद्धांत नहीं गढ़ा था, वे कोई मसीहा नहीं हैं जो अपने पीछे काल, स्थान और सवालों के परे परम सत्य जैसा कोई कमांडमेंट छोड़ गए हैं। यदि उनका कोई संदेश और आह्वान है तो वह केवल इतना हैः दुनिया के मजदूरों एक हो। संगठन बनाने और सहयोग करने की आवश्यकता और कर्त्तव्य के महत्व को जन–जन तक पहुंचाना और स्वयं इस दिशा में लगातार प्रयासरत रहना ही इसलिए मार्क्सवादी को गैर मार्क्सवादी से अलग करने का मापदंड होना चाहिए। हर कोई थोड़ा–थोड़ा मार्क्सवादी है भले ही वह इससे अवगत नहीं है। मार्क्स महान थे, वे उर्वरता से भरपूर थे, इसलिए नहीं कि उन्होंने कल्पना से इतिहास की एक मौलिक दृष्टि को ढूंढ निकाला बल्कि इसलिए कि उनकी नजर से अपूर्ण, खंडित और अपरिपक्व जो कुछ भी गुजरा उसको उन्होंने परिपक्व और चेतना का हिस्सा बनाकर विचार तंत्र में ढाल दिया। उनकी स्वयं की चेतना सार्वभौम हो सकती है, पहले ही यह अनेकों की चेतना बन चुकी है, इसके चलते मार्क्स न केवल एक स्कॉलर हैं बल्कि कर्मयोगी हैं, वे जितने महान और उर्वक अपने विचारों में हैं उतने ही अपने कार्यों में भी हैं। उनकी किताबों ने दुनिया को बदला है जिस तरह उसने विचारों को बदला है। कार्ल मार्क्स हमारे लिए स्पिरिचुअल और नैतिक जीवन के स्वामी हैं...

व्य के महत्व को जन–जन तक पहुंचाना और स्वयं इस दिशा में लगातार प्रयासरत रहना ही इसलिए मार्क्सवादी को गैर मार्क्सवादी से अलग करने का मापदंड होना चाहिए। हर कोई थोड़ा–थोड़ा मार्क्सवादी है भले ही वह इससे अवगत नहीं है। मार्क्स महान थे, वे उर्वरता से भरपूर थे, इसलिए नहीं कि उन्होंने कल्पना से इतिहास की एक मौलिक दृष्टि को ढूंढ निकाला बल्कि इसलिए कि उनकी नजर से अपूर्ण, खंडित और अपरिपक्व जो कुछ भी गुजरा उसको उन्होंने परिपक्व और चेतना का हिस्सा बनाकर विचार तंत्र में ढाल दिया। उनकी स्वयं की चेतना सार्वभौम हो सकती है, पहले ही यह अनेकों की चेतना बन चुकी है, इसके चलते मार्क्स न केवल एक स्कॉलर हैं बल्कि कर्मयोगी हैं, वे जितने महान और उर्वक अपने विचारों में हैं उतने ही अपने कार्यों में भी हैं। उनकी किताबों ने दुनिया को बदला है जिस तरह उसने विचारों को बदला है। कार्ल मार्क्स हमारे लिए स्पिरिचुअल और नैतिक जीवन के स्वामी हैं...

वे हमारी मानसिक शिथिलता को उत्तेजित करते हैं, हमारी रचनात्मक ऊर्जा को जगाते हैं जो सोया रहता है किन्तु जिसको जगाना संघर्ष के लिए आवश्यक है। वे विचारों की स्पष्टता को प्राप्त करने और वास्तविक संस्कृति के निर्माण हेतु गहन और श्रमसाध्य कार्य करने के उदाहरण हैं जिससे हम शून्य में और अबूझ तरीके से बात नहीं करें। वे ज्ञान और प्रज्ञा पूर्ण उस मानवता के अखंड परिमाण हैं, जो बोलने और अनुभव करने के लिए अपनी जिह्वा की ओर नहीं देखते और अपनी हथेली हृदय पर नहीं रखते बल्कि जो यथार्थ को उसके तह तक जाकर निकाल लाने के लिए लौह तर्कों को रचते हैं, जो आम लोगों के दिमाग में घुसकर पूर्वाग्रहों और जड़ विचारों के जमाव को खत्म कर नैतिक चरित्र का निर्माण करते हैं। कार्ल मार्क्स हमारे लिए न तो पालने में रोने वाले बच्चे हैं और न ही पुजारियों को डराने वाले घनी दाढ़ियों वाले कोई पुरुष हैं। उन्हें उनके जीवन की दिलचस्प घटनाओं या उनके वाह्य व्यक्तित्व के कभी शानदार तो कभी सामान्य अभिव्यक्ति में नहीं सीमित किया जा सकता है। वे एक विस्तृत, गहन, गंभीर विचारशील मस्तिष्क हैं, वे मानवता के शताब्दियों पुराने

(4 मई 1918 को ग्राम्शी द्वारा रचित 'हमारे मार्क्स' शीर्षक लेख का संक्षिप्त अनूदित अंश। अनुवाद–तथागत मंडल

करुणानिधि : सामाजिक न्याय के पुरोधा

वी. गीता

तमिलनाडु के पूर्व मुख्यमंत्री मुथुवेल करुणानिधि जब चिर निद्रा में लेटे थे, तब एक स्थानीय टीवी चैनल दिन भर उनकी अंतिम यात्रा का प्रसारण करता रहा। इसके अलावा टीवी पर अपने प्रिय नेता के बिछड़ जाने पर लोग दुख प्रकट करते रहे और विशेष साउंड के साथ लेखकों, कलाकारों, और राजनीतिक दलों के नेताओं के वक्तव्य दिखाए जाते रहे, लेकिन इस दिन बारंबार जो वाक्यांश टीवी पर गूंजता रहा, वह था 'सामाजिक न्याय'। कुछ लोगों के लिए तो इस वाक्यांश को कल्याणवाद के रूप में लिया जाता रहा है कि करुणानिधि सरकार ने 1969 में अपने रंग में आते ही गरीबों के कल्याण के लिए अपना ध्यान केंद्रित किया। लेकिन इसके अलावा दूसरों के लिए करुणानिधि की आरक्षण नीति स्पष्ट रूप से सामाजिक न्याय पर आधारित थी। पिछड़े वर्गों, दलितों, अत्यंत पिछड़ी जातियों, डिनोटिफाइड समुदायों, ईसाइयों और मुसलमानों के लिए कोटा की उनकी नीति बेहद चर्चित रही थी। अब तक दूसरों के लिए तो करुणानिधि सामाजिक न्याय के लिए खड़े थे, क्योंकि उन्होंने विभिन्न केंद्र सरकारों द्वारा शासन और शिक्षा की भाषा के रूप में हिंदी थोपने के प्रयासों के मुकाबले तमिल भाषा के महत्व और कारण को बरकरार रखा था।

लेखिका ने तमिल इतिहास, जाति और लैंगिक विषयों पर महत्वपूर्ण लेखन किया है। इनकी एक पुस्तक 'टुवर्ड्स, अ नॉन-ब्राह्मिन मिलीनियमः फॉम आयोथी थास टू पेरियार' काफी चर्चित रही है।

यह साफ तौर पर कहा जा सकता है कि करुणानिधि के पास जाति आधारित अन्याय से सबसे दृढ़ता से निपटने का सामाजिक न्याय फैलाने वाला नजरिया था। सामाजिक रूप से प्रताड़ित समुदाय से होने के कारण वे मंदिर समर्पण के अभ्यास, भेदभाव और शोषण जैसे स्वरूपों से भलीभांति परिचित थे। उनकी बाल्यावस्था के दौरान (1920 के दशक के उत्तरार्ध और 1930 के दशक के आरंभ में) 'आत्मसम्मान आंदोलन' तमिल समाज में सक्रिय रूप से मौजूद था। इसके अलावा धर्म निंदा, ब्राह्मण वर्चस्व और जातिवादी अत्याचारों को अखबारों, मंचों और रोजमर्रा की बातचीत से उकसाया जा रहा था। इस माहौल में पले-बढ़े करुणानिधि ने 1940 की शुरुआत में अपने लेखन को इसी मुद्दे से ही धार देनी शुरू दी, जिससे नई पीढी को बहुमूल्य विचार मिलने लगे। 'आत्मसम्मान आंदोलन' में बीते बचपन के अनुभव से क्रांतिकारी विचार उन्हें मिले, जिन्हें वे आधुनिक मंच और फिल्म के माध्यम से फैलाने लगे।

इसके बाद 1940 के दशक के अंत में आत्मसम्मान जैसे मुद्दों को एक विशिष्ट स्थान मिला, क्योंकि तब तक पेरियार ने पुरानी गैर-ब्राह्मण जस्टिस पार्टी का नेतृत्व संभाल लिया था। बाद में इस पार्टी का नाम बदलकर द्रविड़ कड़गम (डीके) कर दिया गया और इसे एक सार्वभौम द्रविड़ राष्ट्र के पक्ष में आगे बढ़ाया गया। उनके लिए और आत्मसम्मान के लिए आवाज उठाने वालों के लिए, द्रविड़ राष्ट्र का मतलब था ब्राह्मण-बनिया के आधिपत्य से और छली ब्राह्मणवादी हिंदूवाद से मुक्त समाज।
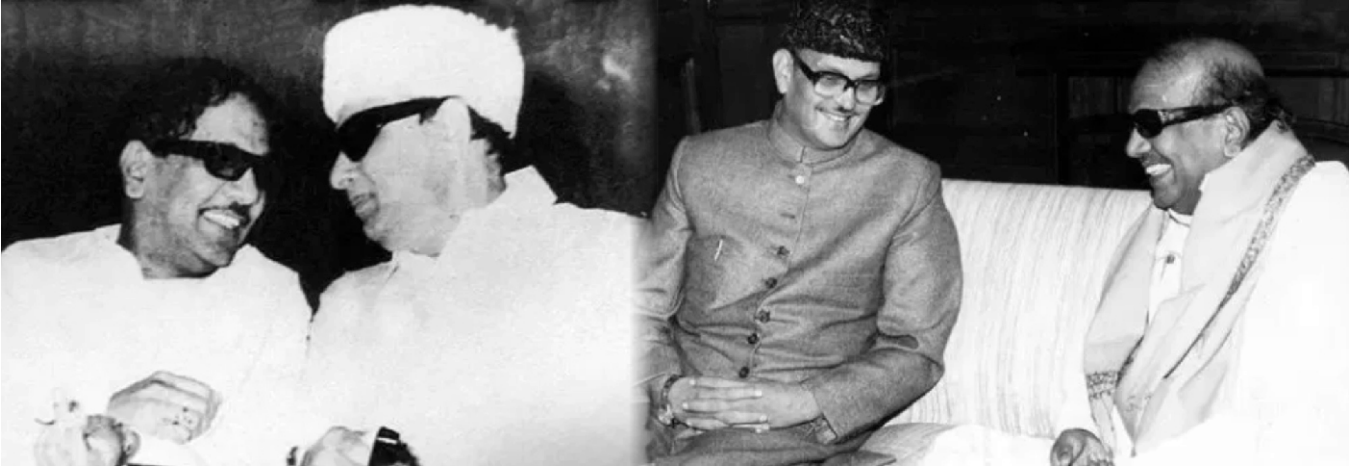
पेरियार के लिए यह केवल राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता के अधिकार को कायम रखने का सवाल नहीं था, बल्कि राष्ट्र के लिए वैकल्पिक दृष्टिकोण के माध्यम से सोचने का एक सवाल था और जो ब्राह्मण–बानिया के हितों के लिए कैद नहीं था।

करुणानिधि जैसे साहसी नौजवान के लिए द्रविड़ राष्ट्रीयता से भरा क्षण एक बड़ा अवसर था। वे सामाजिक न्याय की राजनीति को तमिल गर्व की एक प्रभावशाली राजनीति बनाने के साथ–साथ आर्य–ब्राह्मण–संस्कृत–हिंदी संस्कृति की आलोचना को पुनर्परिभाषित करने लगे। इधर करुणानिधि के प्रभावशाली लेखन में मौजूद इस आलोचना ने भारतीय राष्ट्रवाद की राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं की आलोचना के रुख को बदल कर रख दिया।

वर्ष 1949 में करुणानिधि पेरियार से अलग हो गए। दरअसल इस वर्ष सीएन अन्नादुरई की अध्यक्षता में एक समूह ने डीके से अलग होकर अपनी पार्टी बनाने का फैसला किया। करुणानिधि भी इस समूह का हिस्सा थे। उस दौरान उन्होंने दावा किया कि वे पेरियार ने खुद से बहुत छोटी महिला से शादी की थी। इसके अलावा अन्य मतभेद भी थे। अन्नादुरई भी पेरियार की उत्साही, महत्वाकांक्षी और भारतीय स्वतंत्रता की कठोर आलोचना से असहज थे और निर्वाचन लोकतंत्र की संभावनाओं से चिंतित थे, जो स्वतंत्र भारत में होना तय था।

डीएमके से जुड़ने के बाद करुणानिधि ने नई पार्टी के लिए समर्थन इकट्ठा करने के लिए अपनी लेखकीय क्षमताओं का सहारा लिया। उन्होंने लेखक और स्पीकर के रूप में अपनी बेहतरीन प्रतिभा का प्रदर्शन किया। वे नई पार्टी के तेजतर्रार और शिक्षित युवा के साथ–साथ सहज भी थे। करुणानिधि ने तमिलनाडु में व्यापक रूप से यात्रा की और पार्टी को नई पहचान दी। 1950 का दशक पार्टी के लिए महत्वपूर्ण था क्योंकि इसी समय पार्टी के भविष्य की नींव पड़ी।

डीएमके वर्ष 1967 में कांग्रेस को हरा कर सत्ता में आई। अन्नादुरई मुख्यमंत्री बने। करुणानिधि को लोक निर्माण मंत्री नियुक्त किया गया, लेकिन उन्होंने पार्टी प्रचारक और आयोजक के रूप में अपनी भूमिका जारी रखी। वर्ष 1969 में अन्नादुराई का निधन हो गया, तो वह अपने गुरु की जगह को संभालने के लिए पूरी तरह परिपक्व हो चुके थे और उसी वर्ष मुख्यमंत्री बनने के बाद उन्होंने अपनी कार्यकुशलता को साबित भी कर दिया। वर्ष 1971 में उन्हें बहुत कड़ी टक्कर का सामना करना पड़ा, लेकिन आखिरकार उनकी पार्टी विजयी रही। 1970 के दशक की शुरुआत को द्रविड़ शासन का उल्लेखनीय काल कहा जा सकता है।

करुणानिधि को अपने आदर्शों को अभ्यास में लाने के लिए कड़ी चुनौती का सामना करना पड़ा। लेकिन डीएमके ने जिस तमिल आत्म–शासन की बात कही थी, उसमें वह लोकप्रिय साबित हुआ था। 1956 में राज्यों के भाषाई पुनर्गठन के साथ ही स्वतंत्र भारत में भाषा और संस्कृति के संबंध में डीएमके की राजनीतिक प्रतिबद्धताओं की पुष्टि हुई। इसके बावजूद भारतीय राज्य को आदर्श संघीय राजनीति और अधिकार नहीं थे। विशेष रूप से आर्थिक नियोजन और विकास के मामले में अधिकार बहुत सीमित थे। स्पष्ट रूप से केंद्र सरकार की ऐसी साजिश थी।

करुणानिधि ने अपनी लड़ाइयां सावधानीपूर्वक चुन रखी थी जिनमें सामाजिक न्याय और तमिल भाषा, संस्कृति को लेकर पहल महत्वपूर्ण लड़ाइयां थीं। इसके साथ ही कल्याणवाद भी था, जो आर्थिक विकास पर पूरी तरह से निर्भर नहीं था, लेकिन जनता की अच्छाई के लिए इसे एक महत्वपूर्ण पहलू के रूप में देखा जा सकता था। इस दौरान उन्होंने तमिलनाडु के आर्थिक हितों को सुरक्षित रखने के लिए कड़ा संघर्ष किया। लेकिन इसके बावजूद राज्य में श्रम आंदोलन जोर पकड़ता गया।

1969 में करुणानिधि के महत्वपूर्ण कार्य उनकी दूरगामी नीति को दर्शाते हैं। इस वर्ष एएम सत्तनाथन की अध्यक्षता में बैकवर्ड क्लासेस कमीशन की स्थापना की गई। इन वर्गों के लिए 25 प्रतिशत से 31 प्रतिशत तक आरक्षण बढ़ाया गया। दलितों के लिए आरक्षण को 2 प्रतिशत से बढ़ाकर 18 प्रतिशत कर दिया

स्मृति शेष : अपनी दूसरी पत्नी दयालू के साथ करूणानिधि

गया। आयोग ने पिछड़े वर्गों को दो समूहों में विभाजित कर दिया। पिछड़ी जातियां और अत्यंत पिछड़ी जातियां। इनमें पहले के लिए 16 प्रतिशत आरक्षण और बाद वाले के लिए 17 प्रतिशत की सिफारिश की गई थी। गौरतलब है कि यह विभेद तब तक अमल में नहीं लाया गया, जब तक करुणानिधि की सरकार ने कोटा को 25 प्रतिशत से 31 प्रतिशत तक बढ़ा नहीं दिया।

1970 में पिछड़े माने जाने वाले वानियर जो किसान समुदाय में आते थे, वे बड़े आरक्षण कोटे के लिए कैंपेनिंग कर रहे थे। इस समय डीएमके सत्ता से बाहर थी और एआईएडीएमके के साथ एमजी रामचंद्रन सत्ता में थे। इसके बाद जब डीएमके 1989 में सत्ता में लौटी, तो वानियर आंदोलन का असर देखा गया। करुणानिधि राजनीतिक हलकों में उठ रहे वानियर के उदय के बारे में विशेष रूप से सावधान थे, लेकिन दूसरी तरफ, वे संवेदनशील भी थे कि कैसे जातीय पहचान को रोकने या शिक्षा और सरकारी रोजगार तक इसके पहुंचने के योग्य बनाया जाए।

एमजी रामचंद्रन की सरकार पहले ही पिछड़े वर्गों के कोटा को बढ़ाकर 50 प्रतिशत कर चुकी थी। बहरहाल, इधर वानियार आंदोलनों पर ध्यान देते हुए करुणानिधि की सरकार ने पिछड़े वर्गों के वर्ग में वानियरों के लिए 20 प्रतिशत कोटा बनाया। अनुसूचित जनजातियों के लिए 1 प्रतिशत का एक अतिरिक्त कोटा तय किया गया था, जिन्हें केवल एक समग्र अनुसूचित जातियों और जनजातियों की सूची में ही नहीं माना जाता था। सच्चर कमेटी की सिफारिशों को जब वर्ष 2006 में संसद में प्रस्तुत किया गया, तब करुणानिधि की सरकार ने पिछड़े वर्ग के मुसलमानों के लिए सामान्य पिछड़ा वर्ग कोटा में एक कोटा प्रस्तुत किया। इसके अलावा 2008 में एक दलित समुदाय अरुंदथियर के लिए अनुसूचित जातियों के लिए कुल 18 प्रतिशत के भीतर कोटा तैयार करने पर वे सहमत हो गए।

करुणानिधि यह जल्दी पहचान गए कि पिछड़े वर्गों में आंतरिक रूप से अंतर किया गया था। उन्होंने आय मानदंडों और क्रीमीलेयर में सिर खपाना ठीक नहीं समझा और स्वयं को पिछड़ेपन के स्तर को स्थापित करने पर केंद्रित किया। उनके अरुंदथियर के लिए अलग कोटा के तर्क ने लोगों के बीच उनके विचारों का लोहा मनवाया। इससे अस्पृश्यों की बड़ी संख्या की पहुंच आय, शिक्षा और राज्य सेवा तक बढ़ी। हालांकि उनके इस तरह के फैसले राजनीतिक विचारों से भी प्रभावित थे, लेकिन इसे केवल राजनीति कहकर टाला नहीं जा सकता है। यदि अवसरवादी राजनीति के बरक्स तुलना करें, तो पाएंगे कि एआईएडीएमके ने असमानता दूर करने को लेकर ठीक से काम किए बिना ही कोटा को बढ़ाया, केवल विशेष जाति समुदायों का पक्ष छोड़कर। वहीं करुणानिधि के नेतृत्व वाली डीएमके ने भी एक विशेष रसूखदार जाति पर भरोसा नहीं किया।

जाति चुनावी राजनीति का एक बड़ा कारक है, लेकिन डीएमके के तमिलमय और सामाजिक न्याय की अलंकारिक राजनीति ने यह सुनिश्चित किया है कि इस पार्टी को इस या उस समुदाय वाली पार्टी के रूप में नहीं पहचाना जा रहा है। वहीं दूसरी ओर यह भी दुर्भाग्य ही है कि एआईएडीएमके इससे बचाव करने में असफल रही है। जबकि उत्तर, दक्षिण और पश्चिमी तमिलनाडु की सभी रसूखदार जातियों के दावों को संतुलित करना जरूरी होता है। ये जातियां डीएमके का भी 'प्रतिनिधित्व' करती रही हैं, लेकिन शायद ही कभी वे अपने दावों में मुखर होती हैं।

वर्गीकृत असमानता या जातीय भेदभाव को लेकर करुणानिधि के विचार कभी ढोल पीटने जैसे नहीं रहे, लेकिन उनमें सामाजिक न्याय को लेकर जर्बदस्त चेतना रही है। शुरुआत से ही आत्मसम्मान आंदोलन की गहरी छाप उन पर थी। आत्मसम्मान आंदोलन के उदय के समय राज्य की कार्रवाई या सामाजिक न्याय की नीतियों को लेकर वे हमेशा सार्वजनिक बहस, नागरिक अभियान और आंदोलन के साथ थे। जब तमिल पहचान के साथ गैर–ब्राह्मण पार्टी सत्ता में आई, तब लोगों में आशा जगी कि जाति आधारित भेदभाव को सरकार निपटाएगी।

बहरहाल, 1940 के दशक में आत्मसम्मान आंदोलन के संदर्भ को एक प्रभावशाली सांस्कृतिक के रूप में ढाल दिया गया। डीएमके की युवा विचारधारा ने इस आंदोलन को परवान चढ़ाया। तमिलों को अपने प्राचीन पूर्व–वर्ण अतीत के आधार पर स्वयं को बदलने के लिए प्रेरित किया गया। इस बदलाव के लिए प्रेरणा बने उस समय के प्रमुख ग्रंथों से जुड़े साहित्य, जिनमें जैन और बौद्ध साहित्य भी शामिल थे। तब यह तर्क दिया गया कि एक बार जब वे अपनी ऐतिहासिक पहचान को समझ लेते हैं, तो वे जातिवाद को खत्म करके समानता और बंधुता का अभ्यास करेंगे।

तमिल अस्मिता की स्थापना में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका करुणानिधि की थी। उनके लेखन और भाषणों के माध्यम से लोग प्राचीन तमिल साहित्य के उद्धरण से रूबरू हो रहे थे। उन्होंने ब्राह्मणवादी संस्कृति और हिंदूवाद को खारिज करते हुए एक

अब केवल स्मृति शेष : करूणानिधि के निधन से मायूस उनके समर्थक

विशिष्ट तमिल आचारों को प्रतिस्थापित किया। उन्होंने इस आचार को ऐसी भाषा में उपलब्ध कराया, जिसे आसानी से समझा जा सके। इस प्रकार 1950 के दशक से तमिलों ने जाति–विरोधी राजनीति की घोषणा की या कम से कम जाति आधारित पहचान में अरुचि दिखाई। डीएमके के प्रति दलितों को लगाव इसलिए महसूस हुआ कि वहां दलितों को अपने साथी तमिलों के साथ एकजुट होकर रहने का भान हुआ। 1950 और 1960 के दशक के दौरान डीएमके ने राज्य भर में जाति के मुद्दों को लेकर आंदोलन किया था और ऐसा लगता था कि तमिल समुदाय जातिवाद से पूर्ण रूप से मुक्त हो जाएगा। 1920 और 1930 के दशक में दलित नेताओं और विचारकों ने सार्वजनिक रूप से जाति और अस्पृश्यता के मुद्दों को प्रस्तुत किया और इसी समय दलित पीढ़ी ने तमिल अस्मिता का मुद्दा भी गरम किया।

दलित संवाद के इस ऐतिहासिक क्षण में करुणानिधि की प्रतिक्रिया अस्पष्ट रही है, जबकि उन्होंने चुनाव जीतने के लिए दलित दलों के साथ गठबंधन किए। उन्होंने दलित अधिकारों को लेकर तत्काल प्रतिक्रिया नहीं दी, खास तौर पर वह उत्पीड़न और पुलिसिया जुल्म के खिलाफ उनकी चुप्पी बेहद खलती रही है। तमाराबरानी हत्याओं (1999) के बाद में उन्होंने कभी तत्परता से कार्रवाई नहीं की। इसके अलावा उन्होंने आदिवासियों के साथ हुए अत्याचार पर भी चुप्पी साध ली और अत्याचारी तथाकथित चंदन के तस्कर वीरप्पन के खिलाफ कोई विशेष कदम नहीं उठाया।

अंततः यह कहा जा सकता है कि सामाजिक न्याय की राजनीति, जो कोटा की राजनीति को आगे बढ़ाने के लिए रही है, वह उपजाऊ है, इसमें संदेह नहीं है, लेकिन जाति की कई असमानताओं से टकराने के लिए पर्याप्त नहीं है। करुणानिधि को जिस बात के लिए श्रेय दिया जाता है, वह उनके आरक्षण प्रस्ताव के बारे में नहीं है। 1970 के दशक में उन्होंने धर्म सत्ता के खिलाफ बड़ी लड़ाई लड़ी, जब उनकी सरकार ने मंदिर के पुजारी के केवल ब्राह्मण के ही होने को चुनौती दी थी। करुणानिधि ने सबसे पहले एक आदेश पारित किया था, जिसके मुताबिक किसी भी जाति का शख्स मंदिर का पुजारी बन सकता था। डीएमके सरकार ने इस अधिनियम से वंशानुगत पुरालेखों (पुजारी) के रिवाज को समाप्त कर दिया। इस कदम को सुप्रीम कोर्ट में 16 रिट याचिका दायर कर चुनौती दी गई थी। वहीं, करुणानिधि ने सेतुसमुद्रम परियोजना पर भाजपा से लोहा भी लिया, हालांकि वे 1999 में भाजपा के साथ गठबंधन में शामिल हो गए, लेकिन इस निर्णय पर उन्हें बहुत पछतावा रहा। दरअसल करुणानिधि ने जो विरासत छोड़ी है वह मिश्रित है और यहां तक कि समस्याग्रस्त भी है। उनके आखिरी कार्यकाल में दिशा और दृष्टि की एक कमी लोगों को खटकती रही, लेकिन इसके बावजूद नई पीढ़ी के लिए उनकी ऐतिहासिक स्मृति का अपना महत्व है।

फारवर्ड प्रेस से साभार (अनुवाद : गुलजार हुसैन)

❐

राजकिशोर : पत्रकारिता और साहित्य की विरल आवाज

अरुण कुमार त्रिपाठी

(2 जनवरी 1947–4 जून 2018)

दिल्ली के निगम बोध घाट पर हुई राजकिशोर की अंत्येष्टि से लौटते समय पत्नी से यही चर्चा कर रहा था कि राजकिशोर ने किसी का क्या बिगाड़ा था? क्यों उन्हीं के परिवार पर बज्रपात हुआ। डेढ़ महीने पहले बेटा गया और फिर वे खुद चले गए। गुड्डू के जाने के बाद पत्नी विमला जी और बेटी गुड़िया यानी अस्मिता को इतना अकेला छोड़कर राजकिशोर भी क्यों चले गए। कम से कम विवेक यानी गुड्डू के जाने के बाद राजकिशोर जी को गुड़िया की शादी और विमला जी का साथ देने की जिम्मेदारी तो निभानी थी। वे हिम्मत से भरे लग रहे थे। विवेक के अंतिम संस्कार पर उन्होंने लोगों से राम नाम सत्य है का जयकारा लगाने से मना किया। वे ईश्वर में यकीन नहीं करते थे। मैं तो उन्हें नास्तिक मानता था, लेकिन एक मित्र ने बताया कि वे अज्ञेयवादी थे। लेकिन ईश्वर को न मानने वाले किसी का कुछ नुकसान करते हैं? उनका बड़ा मशहूर लेख है कि नास्तिक किसी का क्या बिगाड़ते हैं। यह लेख उन्होंने तब लिखा था जब वृंदावन में नास्तिकों के सम्मेलन में घुसकर हिन्दुवादियों ने हुड़दंग मचाई थी और उन्हें पीटा था। लगता है प्रकृति ने राजकिशोर जी के जीवन में वैसी ही हुड़दंग मचाई और उनके घर को तहस–नहस कर दिया। जो लोग राजकिशोर जी के जीवन के 72 वें वर्ष की इस घटना से चिंतित हैं वे नहीं जानते कि सारा जीवन अपने बेवाक लेखन और कबीर जैसे फक्कड़ व्यवहार के लिए उन्होंने कितना झेला।

यह निश्चित है कि राजकिशोर जैसे प्रखर, संवेदनशील और समर्थ लेखक अगर किसी सवर्ण बिरादरी में जन्मे होते तो वे पत्रकारिता के शीर्ष पदों पर लंबे समय तक रहते और तमाम चैनल वाले उन्हें बार–बार बुलाकर अपने स्टूडियो में बिठाते। उनके जैसा स्तंभकार हिन्दी पत्रकारिता ने पिछले तीन दशकों में तो नहीं ही पैदा किया। बातचीत में चुटकी लेते हुए बड़ी से बड़ी आलोचना और आंख खोलने वाली बात कह जाना कोई राजकिशोर से सीखे। इसी फक्कड़पन के कारण कई लोग जो उनके लेखन के मुरीद थे और उन्हें पढ़कर उनसे मिलने को आतुर रहते थे, लेकिन मिलकर दूरी बना लेते थे। राजकिशोर लेखन में जितने संयमित रहते थे बातचीत और जीवन में उससे अलग थे। समाजवादियों की तरह जूता न पहनना, अंडरवियर न पहनना और मौके–बेमौके ऐंद्रिक टिप्पणियां कर देना उनका स्वभाव था।

लेखक समाजवादी धारा से जुड़े महत्वपूर्ण पत्रकार हैं। इनकी कई किताबें प्रकाशित हैं।

निश्चित तौर पर बेटे की मौत से वे टूटे थे, लेकिन बाहर से यही दिखाते थे कि जैसे उन पर कोई फर्क नहीं पड़ा है। यह शायद बड़ी चिंताओं के कारण था या परिवार को ढांढस बंधाए रखने के लिए या दोनों के लिए। पर कुछ तो अंतर था भीतर और बाहर में जिसे वे छुपाना चाहते थे, लेकिन ज्यादा समय तक छुपा नहीं सके। विवेक की मौत के बाद जब उनके घर पहुंचा तो विमला जी बिलख कर रोने लगीं, लेकिन राजकिशोर जी समाज को बदलने की योजनाओं पर चर्चा करने लगे। कह रहे थे कि अब लिखने से कुछ नहीं होगा बाहर निकलना ही पड़ेगा वरना यह समाज नष्ट हो जाएगा। यानी उनकी यह टूटन व्यक्तिगत तो थी ही, लेकिन समष्टिगत भी थी।

इस बात को वे अपनी कविता टूटना–में कहते है:

'टूट गए सारे भ्रम
टूट गए सारे मिथक
टूटीं मोटी–मोटी दीवारें
....
टूटे परिवार
बार–बार टूटे
दोस्ती और संबंध के सभी प्रकार टूटे
नहीं टूटी

तो यह अन्यायकारी व्यवस्था
नहीं टूटी
जो सभी को आगे बढ़ाने का वादा करती है
और ज्यादातर को पीछे धकेल देती है।'

निश्चित तौर पर राजकिशोर की यह चिंता अन्य सभी चिंताओं से बड़ी थी। यही वजह थी कि उनका सारा लेखन किसी न किसी रूप में अन्याय, झूठ और पाखंड के विरुद्ध सत्य और न्याय की तलाश है। उसी तलाश में उन्होंने सुंदर भाषा गढ़ी, पैने और चुटीले व्यंग्य किए और समस्याओं के भीतर तक घुसकर उनका समाधान निकालने की कोशिश की। लेखन उनके लिए आत्मिक सुख तो था ही और आजीविका का साधन भी। लेकिन उससे ज्यादा वह समाज को झकझोरने और उसका निदान करने का परचा था जिस पर लिखी दवाई शायद ही कोई खाने को तैयार होता हो। वे जातिवादी, सांप्रदायिक, कट्टरपंथी, अंधविश्वासी और लोभ लिप्सा से ग्रसित पूंजीवादी समाज पर कठोर प्रहार करते थे। वे प्रहार मामूली नहीं थे। वे ऐसे थे कि उनकी टिप्पणियों से सरकार और कॉरपोरेट में बैठे नेता और अफसर तिलमिला जाते थे। यही वजह है कि कुछ वर्ष वर्धा विश्वविद्यालय जैसे सरकारी संस्थान में सेवा करते हुए और ज्यादा दिन कॉरपोरेट जगत में सेवा देते हुए वे कभी सहज नहीं रहे। सरकारी व्यवस्था की पाखंडी मातहती उन्हें सोहाती नहीं थी और पूंजीवाद का वैभव और अन्याय उन्हें नापंसद था। वे लोकतंत्र को हिन्दी में संवाद का संस्कार देने वाले अपने किस्म के विरल पत्रकार थे। उनमें मनोहर श्याम जोशी की तरह भाषा का खिलंदड़ापन था तो प्रभाष जोशी और राजेंद्र माथुर की तरह हृदय को झकझोर देने वाली मारक टिप्पणी करने की क्षमता। वे कबीर की तरह किसी को छोड़ते नहीं थे इसीलिए वे किसी के दुश्मन तो नहीं थे, लेकिन किसी पार्टी और सत्ता के प्रिय भी नहीं थे। अगर वे कम्युनिस्टों पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं कि

मार्क्स और लेनिन की
शिक्षाएं भूल गए
सत्ता की फांसी पर
खुशी–खुशी झूल गए
....
स्वयं रूस में मिले
बेटे यूएस में निकले
ऊंचे सिद्धांत सब
जल्दी ही फिजूल गए

तो उसी रौ में समाजवादियों को भी नही बख्शते :

देश को बनाने चले थे
अपने को भी नहीं बना पाए
हमारे समाजवादी
कम्युनिस्टों की आलोचना करते–करते
उनसे भी बुरे पाए गए
हमारे समाजवादी

राजकिशोर राष्ट्रनिर्माण की समाजवादी धारा से प्रभावित थे, लेकिन उन्हें बातचीत, लेखन और व्यवहार में लोकतंत्र बहुत प्रिय था। वे उसी के लिए जिए और मरे भी उसी के लिए। आज जब लोकतंत्र और संविधान पर संकट आन पड़ा है तो नब्बे के दशक की, राजकिशोर की बौद्धिक भूमिका बहुत याद आती है। उन्होनें मंडल, मंदिर और वैश्वीकरण की बेचैनी के दौर में विभिन्न अखबारों और पत्रिकाओं के माध्यम से अपने विमर्श की हिन्दी पाठकों पर अमिट छाप छोड़ी। जो काम शेष रहा उसे उन्होंने 'आज के प्रश्न श्रृंखला' के माध्यम से पूरा किया।

लगभग आधी सदी तक हिन्दी पत्रकारिता में एक लोकप्रिय लेखक और स्तभंकार के रूप में सक्रिय रहे राजकिशोर का कार्य क्षेत्र कोलकाता और दिल्ली रहा। उन्हें जानने वाले उनकी तुलना कभी अंग्रेजी के महान पत्रकार शामलाल से करते हैं तो कई लोग उन्हें विचार प्रधान लेखन के लिए प्रभाष जोशी और राजेंद्र माथुर से समकक्ष खड़ा करते हैं। सत्तर और अस्सी के दशक की कोलकाता से निकलने वाली प्रसिद्ध पत्रिका रविवार से उन्होंने हिन्दी समाज में अपनी पहचान बनाई और जब कुछ समय के लिए उससे रिश्ता टूटा तो 'परिवर्तन' नामक पत्रिका का संपादन किया। उसके बाद फिर 'रविवार' गए और जब वह बंद हुई तो नब्बे के आरंभ में दिल्ली 'नवभारत टाइम्स' में आ गए और तभी से उनकी दिल्ली में मित्र मंडली बनी और उसके युवा सदस्यों में सत्येंद्र रंजन, हरिमोहन, अरविंद मोहन, प्रेम सिंह, संजीव क्षितिज, अरिहन जैन, अमिताभ श्रीवास्तव, विनोद अग्निहोत्री, नीरेंद्र नागर, देवी प्रसाद मिश्र, विमल कुमार और प्रियदर्शन व चंद्रभूषण जैसे तमाम नाम जुड़ते चले गए। नामवर सिंह, सुधीश पचौरी, केदारनाथ सिंह, राजेंद्र यादव, विष्णु नागर जैसे वरिष्ठ लेखकों और बुद्धिजीवियों के बीच तो उनकी पहचान थी ही और उसने उनके दिल्ली आगमन का पलक पांवड़े बिछाकर स्वागत किया।

राजकिशोर उस समय नवभारत टाइम्स के संपादकीय पृष्ठ के प्रभारी थे जब राजेंद्र माथुर जैसे प्रबुद्ध लेखक अखबार के संपादक थे। बाद में विद्यानिवास मिश्र ने भी उनकी प्रतिभा का सम्मान करते हुए उन्हें वह दायित्व दिया। इस दौरान मंडल और मंदिर आंदोलन के साथ भूमंडलीकरण के सवालों पर हिन्दी समाज विशेष रूप से उद्वेलित था। राजकिशोर ने न सिर्फ संपादकीय पृष्ठ की बेवाक टिप्पणियों के माध्यम से बल्कि आज के प्रश्न श्रृंखला के माध्यम से तमाम ज्वलंत प्रश्नों का गहराई से उत्तर देने का प्रयास किया। उन्हीं दिनों यह टिप्पणीकार भी उनका प्रिय लेखक बना और आखिरी दिनों तक बिना किसी भेदभाव के उन पर उसका प्रेम कायम रहा। वे अक्सर कहा करते थे कि एक लेखक के पास धन और सत्ता नहीं आती। उसे सच के

साथ साहसपूर्ण और कठिन जीवन जीना होता है। उसके जीवन में दुख बहुत आते हैं और उसे गरल की तरह पीना होता है। नब्बे के दशक में कहा गया राजकिशोर का यह वाक्य उनके अपने जीवन में भविष्यवाणी की तरह प्रकट हुआ। डेढ़ महीने पहले प्रतिभाशाली बेटे की मृत्यु और उसका पूरा संस्कार एक नास्तिक की तरह करने वाले राजकिशोर जी बाहर से हिम्मत वाले और भीतर से सामाजिक सरोकार वाले दिखते थे। लेकिन जिस तरह से पिछले 21 दिनों तक वे एम्स में बीमारी से जूझे उसे देखकर लगा कि वे भीतर से टूट भी गए थे। आज पैकेज के दौर की पत्रकारिता में राजकिशोर एक तपस्वी की तरह जिए और ऋषियों की तरह अपने समाज को बहकने और पतित होने से बचाने में लगे रहे। हमारी पत्रकारिता को सत्य और प्रेम के दो पैरों पर खड़ा करने की कोशिश में उन्होंने जीवन के सत्तर वर्ष होम कर दिए।

राजकिशोर को देखकर मिर्च मसाला फिल्म का वह दृश्य याद आता है जब ओमपुरी जैसा बूढ़ा पहरेदार यह कहते हुए गांव की महिलाओं की इज्जत बचाने के लिए अपने जान की बाजी लगा देता है, कि बूढ़ा ही सही इस गांव में एक मर्द तो है। कोलकाता के आनंद बाजार पत्रिका समूह के 'रविवार' से शुरू होकर परिवर्तन' और दिल्ली के 'नवभारत टाइम्स' से होते हुए फिर 'दूसरा शनिवार' और 'रविवार डाइजेस्ट' तक चार दशक में फैली राजकिशोर की पत्रकारिता हिन्दी की विचार पत्रकारिता का सर्वश्रेष्ठ नमूना है। वे उपन्यासकार भी थे और बहुत अच्छे कवि भी। वे हिन्दी के हर अखबार में छपे और हिन्दी क्षेत्र में खूब पढ़े और सराहे गए। लेकिन उन्होंने अपने मूल्यों और विश्वासों से कभी समझौता नहीं किया और इसीलिए बड़े संस्थानों में लंबे समय तक टिक नहीं सके। उन्हें हिन्दी जगत का हर पढ़ा लिखा व्यक्ति प्यार करता था उन्हें पढ़ने का सुख लेना चाहता था, लेकिन हिन्दी समाज उनकी तकलीफों से बेखबर था। वे लगातार आर्थिक संघर्ष में रहे। अपना जो भी घर परिवार बसाया वह उनकी आंखों के सामने ही बिखर गया। उन्हें लगने लगा था कि उन्होंने अपने पूरे जीवन में आजादी और न्याय को जो नया अर्थ देने का प्रयास किया वह फिर निरर्थक होता जा रहा है। उन्होंने कभी स्त्री, कभी दलित, कभी पिछड़े तो कभी अल्पसंख्यक समाज के प्रश्नों को उठाकर लोकतंत्र को विस्तारित किया। लेकिन किसी पार्टी या नेता के वफादार नहीं हुए।

राजकिशोर उस पीढ़ी के पत्रकार थे जिसने नया भारत बनाने के सपने देखे थे और वे सपने गांधी, लोहिया और जयप्रकाश के जीवन और संघर्ष से जुड़े थे। उनकी एक पुस्तक है 'आजादी एक अधूरा शब्द है।' यह वही विचार है जिसे अति वामपंथी कभी इंडिया मार्टगेज्ड के रूप में व्यक्त करते थे तो कभी गांधी और आंबेडकर गोरे अंग्रेजों के बाद काले अंग्रेजों की गुलामी से लड़ने की सीख देकर करते थे।

राजकिशोर ने अगर कोलकाता का नक्सलवाद देखा था तो अस्सी–नब्बे के दशक में उठी कांग्रेस विरोधी लहर में भी तैरे थे और मंडल, मंदिर और भूमंडलीकरण की आंधी को शांत करने का प्रयास भी किया था। जब विश्वनाथ प्रताप सिंह ने मंडल आयोग की रिपोर्ट लागू की तो दिल्ली में छात्र–युवा वर्ग उत्तेजित हो गए और आत्मदाह शुरू हो गया। मंडल आयोग के समर्थक होते हुए भी उन्होंने दिल्ली के आनंद विहार से लक्ष्मीनगर तक एक शांति मार्च निकाला और युवा के भटकाव को रोकने का प्रयास किया। सच्चिदानंद सिन्हा, किशन पटनायक के बाद अगर समाजवाद की वैचारिकी में कोई बड़ा नाम आता था तो वह राजकिशोर का था। उन्होंने उस समय बेचैन और निराश हो चुके उत्तर भारतीय समाज को समझाने और उसका संतुलन बनाने की जी भर कर कोशिश की। वह एक बड़ी भूमिका थी जिसे उस दौर की उथल–पुथल और उसमें से निकलते लोकतंत्र के गंभीर सवालों को देखकर ही समझा जा सकता है। राजकिशोर ने अपने आखिरी दिनों में फारवर्ड प्रेस के लिए एकलव्य की जीवनी लिखी थी और डॉ. भीमराव आंबेडकर की प्रसिद्ध पुस्तक एनीहिलेशन आफ कास्ट का हिन्दी अनुवाद किया था। उनकी चेतना लगातार क्रांतिकारी हो रही थी।

कोलकाता के आनंद बाजार पत्रिका समूह के 'रविवार' से शुरू होकर परिवर्तन' और दिल्ली के 'नवभारत टाइम्स' से होते हुए फिर 'दूसरा शनिवार' और 'रविवार डाइजेस्ट' तक चार दशक में फैली राजकिशोर की पत्रकारिता हिन्दी की विचार पत्रकारिता का सर्वश्रेष्ठ नमूना है। वे उपन्यासकार भी थे और बहुत अच्छे कवि भी। वे हिन्दी के हर अखबार में छपे और हिन्दी क्षेत्र में खूब पढ़े और सराहे गए। लेकिन उन्होंने अपने मूल्यों और विश्वासों से कभी समझौता नहीं किया और इसीलिए बड़े संस्थानों में लंबे समय तक टिक नहीं सके।

राजकिशोर ने हिंदी समाज की पूरी पीढ़ी की चेतना को तराशा और संवारा है। उसे भाषा और पत्रकारिता का संस्कार दिया है और उसे लिखना–बोलना सिखाया है। इतना सरल, संगीतमय, चुटीला और धारदार गद्य लिखने वाला स्तंभकार–पत्रकार पिछले तीन दशकों में पैदा नहीं हुआ। उन्होंने जीवन में इसी का आनंद लिया और इसी नाते कष्ट में भी रहे। शायद इसी नाते वे बड़े पदों पर नहीं रहे। ऐसा लेखन तभी संभव होता है जब आप कबीर की तरह सच्चाई के साबुन से अपनी चादर रोज धोएं और प्रेम के घोल से कलफ लगाएं। यही कारण है कि राजकिशोर जीवन में तमाम कष्ट उठाने के बावजूद अपनी चादर ज्यों की त्यों धर कर चले गए। इस कबीर का मूल्यांकन होना अभी शेष है। ❐